11070CH03

आवारा मसीहा

दिशाहारा

किसी कारण स्कूल की आधी छुट्टी हो गई थी। घर लौटकर गांगुलियों के नवासे शरत् ने अपने मामा सुरेंद्र से कहा, "चलो पुराने बाग में घूम आएँ।"

उस समय खूब गरमी पड़ रही थी, फूल-फल का कहीं पता नहीं था। लेकिन घनी छाया के नीचे निस्तब्धता में समय काटना बहुत अच्छा लगता था। वह अब यहाँ से चला जाएगा, इस बात से शरत् का मन बहुत भारी था। लेकिन कहता वह किसी से नहीं था। चुपचाप सुरेंद्र के साथ घर से निकल पड़ा। नाते में मामा और आयु में छोटा होने पर भी दोनों में धीरे-धीरे मित्रता के बंधन गहराते आ रहे थे।

बाग में पहुँचकर पेड़ों के पास घूमते-घूमते वह मानो मन ही मन उनसे विदा लेने लगा। शायद वह सोच रहा था कि अब वापस आना हो या न हो। फिर जैसा कि उसका स्वभाव था, सहसा कूदकर वह एक पेड़ की डाल पर बैठ गया और बातें करने लगा। इन बातों का कोई अंत नहीं था। कोई सूत्र भी नहीं था। विदा के दुख को छिपाने के लिए ही मानो वह कुछ न कुछ कहते रहना चाहता था। बोला, "तू दुखी न हो, हम फिर मिलेंगे और बीच-बीच में तो मैं आता ही रहूँगा।"

"आओगे?"

"क्यों नहीं आऊँगा, भागलपुर क्या मुझे कम अच्छा लगता है? घाट के टूटे स्तूप पर से गंगा में कूदने में कितना मज़ा आता है! उस पार वह जो झाऊ का वन है, उसे क्या भूल सकूँगा! वह मुझे पुकारेगा और मैं चला आऊँगा।"

फिर दीर्घ नि:श्वास लेकर बोला, "ओह, कितनी प्यारी जगह है यह भागलपुर, देख लेना मैं अवश्य आऊँगा।"

दो क्षण तक दोनों में से कोई नहीं बोला। फिर सहसा शरत् ने कहा, "पेड़ पर चढ़ना बड़ा ज़रूरी है, मान लो किसी वन में जा रहे हैं, हठात् संध्या का अंधकार फैल गया, चारों ओर से हिंसक पशुओं की आवाज़ें उठने लगीं, तब यदि पेड़ पर चढ़ना न आया तो महाविपद..."

सुरेंद्र ने पूछा, "अगर गिर पड़े तो..."

शरत् ने कहा, "गिरेगा क्यों रे!"

वह और ऊपर चढ़ गया। एक कपड़े से कमर को पेड़ की एक मोटी शाखा से बाँधा और लेट गया। बोला, "इस तरह सोकर रात काटी जा सकती है।"

नाना के घर रहते शरत् को लगभग तीन वर्ष हो गए थे। इससे पहले भी वह माँ के साथ कई बार आ चुका था। सबसे पहली बार उसकी माँ जब उसको लेकर आई थी, तो नाना-नानियों ने उस पर धन और अलंकारों की वर्षा की थी। नाना केदारनाथ ने कमर में सोने की तगड़ी पहनाकर उसे गोद में उठाया था। उस परिवार में इस पीढ़ी का पहला लड़का था वह!

लेकिन तीन वर्ष पहले का यह आना कुछ और ही तरह का था। उसके पिता मोतीलाल यायावर प्रकृति के स्वप्नदर्शी व्यक्ति थे। जीविका का कोई भी धंधा उन्हें कभी बाँधकर नहीं रख सका। चारों ओर से लांछित होकर वह बार-बार कामकाज की तलाश करते थे। नौकरी मिल भी जाती थी तो उनके शिल्पी मन और दासता के बंधन में कोई सामंजस्य न हो पाता। कुछ दिन उसमें मन लगाते, परंतु फिर एक दिन अचानक बड़े साहब से झगड़कर उसे छोड़ बैठते और पढ़ने में व्यस्त हो जाते या कविता करने लगते। कहानी, उपन्यास, नाटक सभी कुछ लिखने का शौक था। चित्रकला में भी रुचि थी।

सौंदर्यबोध भी कम नहीं था। सुंदर कलम में नया निब लगाकर बढ़िया कागज़ पर मोती जैसे अक्षरों में रचना आरंभ करते, परंतु आरंभ जितना महत्त्वपूर्ण होता, अंत होता उतना ही महत्त्वहीन। अंत की अनिवार्यता मानो उन्होंने कभी स्वीकार ही नहीं की। बीच में ही छोड़कर नयी रचना आरंभ कर देते। शायद उनका आदर्श बहुत ऊँचा होता था या शायद अंत तक पहुँचने की क्षमता ही उनमें नहीं थी। वह कभी कोई रचना पूरी नहीं कर सके। एक बार बच्चों के

लिए उन्होंने भारतवर्ष का एक विशाल मानचित्र तैयार करना आरंभ किया, परंतु तभी मन में एक प्रश्न जाग आया, क्या इस मानचित्र में हिमाचल की गरिमा का ठीक-ठीक अंकन हो सकेगा? नहीं हो सकेगा। बस, फिर किसी भी तरह वह काम आगे नहीं बढ़ सका।

इस तरह मोतीलाल की सारी कला-साधना व्यर्थता में ही सफल हुई। परिवार का भरण-पोषण उनके लिए असंभव हो गया। यह देखकर शरत् की माँ भुवनमोहिनी ने पहले तो पति को बहुत-कुछ कहा-सुना, फिर अपने पिता केदारनाथ से याचना की और एक दिन सबको लेकर भागलपुर चली आईं। मोतीलाल एक बार फिर घर-जँवाई होकर रहने लगे।

(2)

भागलपुर आने पर शरत् को दुर्गाचरण एम.ई. स्कूल की छात्रवृत्ति क्लास में भर्ती कर दिया गया। नाना स्कूल के मंत्री थे, इसलिए बालक की शिक्षा-दीक्षा कहाँ तक हुई है, इसकी किसी ने खोज-खबर नहीं ली। अब तक उसने केवल 'बोधोदय' ही पढ़ा था। यहाँ उसे पढ़ना पड़ा 'सीता-वनवास', 'चारु पाठ', 'सद्भाव-सद्गुरु' और 'प्रकांड व्याकरण'। यह केवल पढ़ जाना ही नहीं था, बल्कि स्वयं पंडित जी के सामने खड़े होकर प्रतिदिन परीक्षा देना था। इसलिए यह बात निस्संकोच कही जा सकती है कि बालक शरत् का साहित्य से प्रथम परिचय आँसुओं के माध्यम से हुआ। उस समय वह सोच भी नहीं सकता था कि मनुष्य को दुख पहुँचाने के अलावा भी साहित्य का कोई उद्देश्य हो सकता है, लेकिन शीघ्र ही वह यह अवश्य समझ गया कि वह क्लास में बहुत पीछे है। यह बात वह सह नहीं सकता था, इसलिए उसने परिश्रमपूर्वक पढ़ना आरंभ कर दिया। और देखते-देखते बहुतों को पीछे छोड़कर अच्छे बच्चों में गिना जाने लगा।

नाना लोग कई भाई थे और संयुक्त परिवार में एक साथ रहते थे। इसलिए मामाओं और मौसियों की संख्या काफ़ी थी। उनमें छोटे नाना अघोरनाथ का बेटा मणींद्र उसका सहपाठी था। उन दोनों को घर पढ़ाने के लिए नाना ने अक्षय पंडित को नियुक्त कर दिया था। वे मानो यमराज के सहोदर थे। मानते थे कि विद्या का

निवास गुरु के डंडे में है। इसलिए बीच-बीच में सिंह-गर्जना के साथ-साथ रुदन की करुण-ध्वनि भी सुनाई देती रहती थी।

इस विद्याध्ययन के समय शरारत कम नहीं चलती थी। शरत् यहाँ भी अग्रणी था। उस दिन तेल के दिये के चारों ओर बैठकर सब बच्चे पढ़ रहे थे और बरामदे में निवाड़ के पलंग पर लेटे हुए नाना सुन रहे थे सहसा वे बोल उठे, "क्यों, पुराना पाठ याद कर रहे हो? आज नया पाठ नहीं पढ़ा क्या?"

"नहीं!"

"क्यों?"

"पंडित जी नहीं आए। उन्हें बुखार आ गया है।"

बस नाना ने घर के सेवक मुशाई को पुकारा, "मुशाई, लालटेन जलाओ! पंडित जी को बुखार आ गया है। देखने जाना है।"

वे स्कूल के मंत्री ही नहीं, समाज के नेता भी थे। मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसमें वे आदर्श माने जाते थे। उनके जाते ही शरत् ने घोषणा की, "कैट इज़ आउट, लेट माउस प्ले।"

और तुरंत ही समवेत गान का यह स्वर वहाँ गूँज उठा :

डांस लिटिल बेबी, डांस अप हाई,
नेवर माइंड बेबी, मदर इज़ नाई।
क्रो एंड केपार, केपार एंड क्रो,
देअर लिटिल बेबी, देअर यू गो।
अप-टू दी सीलिंग, अप-टू दी ग्राउंड,
बैकवर्ड एंड फार्वर्ड, राउंड एंड राउंड।
डांस लिटिल बेबी, एंड मदर विल सिंग,
मैरिली-मैरिली, डिंग-डिंग-डिंग।

एक उत्साही बालक ने इस अंतिम पंक्ति का तुरंत हिंदी अनुवाद भी प्रस्तुत कर दिया, "खुशी से, खुशी से, ताक धिनाधिन।"

एक दिन न जाने कहाँ से एक चमगादड़ बच्चों के सिर पर आकर मँडराने लगा। छोटा मामा देवी सोया पड़ा था क्योंकि नाना भी सो गए थे। तब बाकी बच्चों

का पढ़ना कैसे होता? चमगादड़ को देखकर मणि और शरत् के हाथ खुजलाने लगे। लाठियाँ लेकर वे उसे पकड़ने दौड़े। फिर जो युद्ध मचा, उसमें चमगादड़ तो जंगले में से होकर निकल गया, लेकिन लाठी दीवे में जा लगी। चादर पर तेल फैलता हुआ वह बुझकर गिर पड़ा। यह देखकर मणि और शरत् दोनों चुपचाप वहाँ से पलायन कर गए। नाना की आँख खुल गई। देखा घोर अंधकार फैला है। पुकार उठे, "मुशाई, मुशाई!"

मुशाई दौड़ा-दौड़ा आया, "जी!"

"बात्ती कैयूं बुत्त गया?"

दियासलाई जलाकर मुशाई ने देखा कि वहाँ न तो मणि है और न शरत्। केवल देवी गहरी नींद में सोया है। बोला, "मणि और शरत् तो खाना खाने गए हैं। देवी ने बत्ती गिरा दी है।"

इस अपराध की कोई क्षमा नहीं थी। केदारनाथ ने देवी का कान पकड़कर उठाया और मुशाई से कहा, "इसे ले जाकर अस्तबल में बंद कर दो।"

अगले दिन मामा को प्रसन्न करने के लिए गहरी रिश्वत देनी पड़ी। लेकिन देवी पर माँ सरस्वती की कम ही कृपा थी। शरत् के बड़े मामा ठाकुरदास सभी बच्चों की शिक्षा की देखभाल करते थे। वे गांगुली परिवार की कट्टरता और कठोरता के सच्चे प्रतिनिधि थे। उस दिन क्या हुआ, मोतीलाल बच्चों को लेकर गंगा के किनारे घूम रहे थे कि अचानक ठाकुरदास आ निकले। उनकी दृष्टि में यह अक्षम्य अपराध था। उन्होंने बच्चों को तुरंत परीक्षा के लिए प्रस्तुत होने का आदेश दिया। किसी तरह मणि और शरत् तो मुक्ति पा गए, लेकिन देवी ने जगन्नाथ शब्द का संधि-विच्छेद किया, 'जगड़-नाथ'।

इस अपराध का दंड पीठ पर चाबुक खाना ही नहीं था, अस्तबल में बंद होना भी था। परंतु शरत् पर इन बातों का कोई असर नहीं होता था। यहाँ तक कि स्कूल में भी दुष्टता करने से वह नहीं चूकता था। अकसर वहाँ की घड़ी समय से आगे चलने लगती। उसको ठीक करके चलाने का भार वैसे अक्षय पंडित पर था। लेकिन दो घंटे खूब जमकर काम करने के बाद तंबाकू खाने की इच्छा हो आना स्वाभाविक था। तब वे स्कूल के सेवक जगुआ की पानशाला में जा उपस्थित होते।

इसी समय शरत् की प्रेरणा से दूसरे छात्र उस घड़ी को दस मिनट आगे कर देते। कई दिन तक जब उनकी चोरी नहीं पकड़ी गई तो साहस और बढ़ गया। वे घड़ी को आधा घंटा आगे करने लगे। इसके बाद कभी-कभी वह एक घंटा भी आगे हो जाती थी। उस दिन तीन का समय होने पर उसमें चार बजे थे। अभिभावकों के मन में संदेह होने लगा, लेकिन पंडित जी ने उत्तर दिया, "मैं स्वयं घड़ी की देखभाल करता हूँ।"

उत्तर उन्होंने दे दिया, लेकिन शंका उनके भी मन में थी। इसलिए उन्होंने चुपचाप इस रहस्य का पता लगाने का प्रयत्न किया। एक दिन पानशाला से असमय में ही लौट आए, क्या देखते हैं कि बच्चे एक-दूसरे के कंधे पर चढ़कर घड़ी को आगे कर रहे हैं। बस वे गरज उठे। और सब लड़के तो निमिष-मात्र में वहाँ से भाग गए, लेकिन शरत् भले लड़के का अभिनय करता हुआ बैठा रहा। पंडित जी यह कभी नहीं जान सके कि इस सारे नाटक का निदेशक वही है। उसने कहा, "पंडित जी, आपके पैर छूकर कहता हूँ, मुझे कुछ नहीं मालूम। मैं तो मन लगाकर सवाल निकाल रहा था।"

उस समय की उसकी मुख-भंगी देखकर कौन अविश्वास कर सकता था? अपने असीम साहस और सूझ-बूझ के कारण जिस प्रकार वह घर में मामा लोगों के दल का दलपति बन गया था, उसी प्रकार स्कूल के विद्यार्थियों के नेतृत्व का भार भी अनायास ही उसके कंधों पर आ गया।

उसके शौक भी बहुत थे, जैसे पशु-पक्षी पालना और उपवन लगाना। लेकिन उनमें सबसे प्रमुख था तितली-उद्योग। नाना रूप रंग की अनेक तितलियों को उसने काठ के बक्स में रखा था। बड़े यत्न से वह उनकी देखभाल करता था। उनकी रुचि के अनुसार भोजन की व्यवस्था होती थी। उनके युद्ध का प्रदर्शन भी होता था। उसी प्रदर्शन के कारण उसके सभी साथी उसकी सहायता करके अपने को धन्य मानते थे। उनमें न केवल परिवार के या दूसरे बड़े घरों के बालक थे बल्कि घर के नौकरों के बच्चे भी थे। उनके साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता था। ये बच्चे भी उसे प्रसन्न करके अपने को कृतार्थ अनुभव करते थे।

अपने उपवन में उसने अनेक प्रकार के फूल-गाछ और लता-गुल्म लगाए थे। ऋतु के अनुसार जूही, बेला, चंद्रमल्लिका और गेंदा आदि के फूल खिलते और

दलपति सहित सभी बच्चे गद्गद हो उठते। इस उपवन के बीच में गड्ढा खोदकर एक तलैया का निर्माण भी उसने किया था। उस पर टूटे शीशे का आवरण था। साधारणतया वह उस पर मिट्टी लीप देता, परंतु कोई विशिष्ट व्यक्ति देखने आता तो मिट्टी हटाकर उसे चकित कर देता।

लेकिन ये सब कार्य उसे लुक-छिपकर करने पड़ते थे, क्योंकि नाना लोग इन्हें पसंद नहीं करते थे। उनकी मान्यता थी कि बच्चों को केवल पढ़ने का ही अधिकार है। प्यार, आदर और खेल से उनका जीवन नष्ट हो जाता है। सवेरे स्कूल जाने से पहले घर के बरामदे में उन्हें चिल्ला-चिल्लाकर पढ़ना चाहिए और संध्या को स्कूल से लौटकर रात के भोजन तक चंडी-मंडप में दीवे के चारों ओर बैठकर पाठ का अभ्यास करना चाहिए। यही गुरुजनों की प्रीति पाने का गुर था। जो नियम तोड़ता था उसे आयु के अनुसार दंड दिया जाता था। कोई नहीं जानता था कि न जाने कब किसको घंटों तक एक पैर पर खड़े होकर आँसू बहाने पड़ें। इस अनुशासन के बीच खेलने का अवकाश पाना बड़ा कठिन था, परंतु आँखों में धूल झोंकने की कला में शरत् निष्णात था।

छात्रवृत्ति[1] की परीक्षा पास करने के बाद, जब वह अंग्रेज़ी स्कूल में भर्ती हुआ, तब भी उसकी प्रतिभा में ज़रा भी कमी नहीं हुई। गांगुली परिवार में पतंग उड़ाना वैसे ही वर्जित था जैसे शास्त्र में समुद्र-यात्रा। परंतु शरत् था कि पतंग उड़ाना, लट्टू घुमाना, गोली और गुल्ली-डंडा जैसे निषिद्ध खेल उसे बड़े प्रिय थे। नीले आकाश में नृत्य करती हुई उसकी पतंग को देखकर दल के दूसरे सदस्यों के हृदय नाच उठते। उसका माँझा विश्वजयी था। वह ऐसा पेंच मारता कि विरोधी की पतंग कटकर धरती पर आ गिरती। शून्य में लट्टू घुमाकर उसे हथेली पर ऐसे लपक लेता कि साथी मुग्ध हो रहते।

बाग से फल चुरा लाने की कला में भी वह कम कुशल नहीं था। मालिक लोग संदेह करते, पेड़ पर लगे अमरूदों की गिनती भी वे रखते, लेकिन वे डाल-डाल तो शरत् पात-पात। उसकी तीक्ष्ण बुद्धि के सामने मालिकों के सब उपाय व्यर्थ हो जाते।

1. सन् 1887 ई.में छात्रवृत्ति स्कूल होते थे, जिनमें अंतिम श्रेणी छठी होती थी। छात्रवृत्ति का अर्थ आज जैसा नहीं था।

यदि कभी पकड़ा भी जाता तो वीरों की तरह दंड ग्रहण करता। कथाशिल्पी शरत्‌चंद्र के सभी प्रसिद्ध पात्र देवदास, श्रीकांत, दुर्दांतराम और सव्यसाची इस कला में निष्णात हैं। पता नहीं, दुर्दांतराम की तरह उसकी कोई नरायनी भाभी थी या नहीं पर निश्चय ही चोरी की शिकायत आने पर उसकी माँ ने उस कलमुँहे को एक पैर पर खड़ा होने की सज़ा दी होगी और उसने विरोध प्रकट करते हुए भी उसे स्वीकार कर लिया होगा।

वह खिलाड़ी था, विद्रोही भी उसे कह सकते हैं, पर बदमाश वह किसी भी दृष्टि से नहीं था। भले ही तत्कालीन मापदंड के अनुसार उसे यह उपाधि मिली हो। पिता की तरह उसमें भी प्रचुर मात्रा में सौंदर्य-बोध था। पढ़ने के कमरे को खूब सजाकर रखता। चौकी और उस पर एक सुंदर-सी तिपाई, एक बंद डेस्क और उसमें पुस्तकें, कापियाँ, कलम-दवात इत्यादि-इत्यादि। उसकी पुस्तकें झक-झक करती थीं। कापियाँ वह स्वयं करीने से काटकर ऐसे तैयार करता था कि देखते ही बनता था।

स्वभाव से भी वह अपरिग्रही था। दिनभर में वह जितनी गोलियाँ और लट्टू जीतता, संध्या को वह उन सबको छोटे बच्चों में बाँट देता। देने में उसे मानो आनंद आता था, लेकिन यह देने के अभिमान का आनंद नहीं था, यह था भार-मुक्ति का आनंद। नींद और आहार पर भी उसे अधिकार था। बचपन से ही वह स्वल्पाहारी था। बड़े होने पर कथाशिल्पी शरत्‌चंद्र की 'बड़ी बहू' सबसे अधिक इसीलिए तो परेशान रहती थी।

अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ते समय उसे अपने शरीर का बड़ा ध्यान रहता था। नाना के घर के उत्तर की ओर गंगा के ठीक ऊपर एक बहुत बड़ा और बदनाम घर था। कभी वहाँ एक बहुत बड़ा परिवार रहता था। परंतु संयोग से एक के बाद एक, कई मृत्यु हो जाने पर वे लोग उसे छोड़कर चले गए। उसके बाद बहुत दिनों तक वह भूतावास बना रहा। अभिभावकों से छुपाकर इसी महल के आँगन में शरत् ने कुश्ती लड़ने का अखाड़ा तैयार किया। गोला फेंकने के लिए गंगा के गर्भ से बड़े-बड़े गोल पत्थर आ गए, लेकिन 'पैरेलल बार' की व्यवस्था नहीं हो सकी। पैसे का अभाव जो था। बहुत सोच-विचार कर शरत् ने आदेश दिया, "बाँस की बार तैयार की जाए।"

बस संध्या के झुटपुटे में चार-पाँच लड़के बाँस काटने निकल पड़े। झाड़-झंखाड़ों में रगड़-रगड़कर हाथ-पाँव लहूलुहान हो गए। पर दलपति की आज्ञा है कि उसी रात को 'पैरेलल बार' तैयार हो जानी चाहिए और वह हुई। अगले दिन दोपहर तक सब लड़के उत्फुल्ल होकर उस पर झूलने लगे। लेकिन शोर मचाना वहाँ एकदम मना था। घर के लोग जान न लें, इसलिए लौटते समय वे सब प्राण-रक्षा का मंत्र पढ़ते हुए लौटते थे, लेकिन एक दिन क्या हुआ कि गिर जाने के कारण एक बालक को चोट आ गई। उसके बाद जो कुछ हुआ उसकी कल्पना कर लेना कष्टसाध्य नहीं है।

उसका विश्वास था कि तैरने से शरीर बनता है। गंगा घर के समीप ही थी, लेकिन कभी-कभी रूठकर दूर चली जाती थी। उस वर्ष ऐसा ही हुआ। बीच में छोटे-छोटे ताल बन गए और उनमें लाल-लाल जल भर गया। शरत् उस लाल जल में स्नान करने का लोभ कैसे संवरण कर सकता था! मणि मामा को साथ लेकर एक दिन वह उसमें कूद ही तो पड़ा, लेकिन उसका दुर्भाग्य, उस दिन छोटे नाना अघोरनाथ असमय ही घर लौट आए। उन्होंने मणि को नहीं देखा तो पूछा, "मणि कहाँ है?"

किसी ने बताया, "मणि-शरत् ताल में स्नान करने गए हैं।"

उस क्षण अघोरनाथ ने जो हुँकार किया उसे सुनकर सब डर गए। उनका यह डर अकारण नहीं था, जैसे ही दोनों बालक नहाकर खुशी-खुशी घर लौटे, वैसे ही छोटे नाना सिंह के समान गर्जन करते हुए मणि पर टूट पड़े। घर की नारियों के बार-बार बचाने पर भी उसकी जो दुर्गति हुई उसको ठीक होते-होते पाँच-सात दिन लग गए। लेकिन शरत् उस क्षण के बाद वहाँ नहीं देखा गया। तीसरे दिन जब नाना फिर घोड़े पर सवार होकर काम पर चले गए तभी वह दिखाई दिया। मामा लोगों ने अचरज से पूछा, "तू कहाँ चला गया था रे?"

शरत् ने उत्तर दिया, "मैं गोदाम में था।"

"क्या खाता था?"

"वही जो तुम खाते थे।"

"कौन देता था?"

"छोटी नानी!"

जिस समय छोटे नाना मणि को मार रहे थे, उस समय छोटी नानी के परामर्श से शरत् घर में जा छिपा था।

लेकिन उसे खेलने का जितना शौक था उतना ही पढ़ने का भी था। वह केवल स्कूल की ही पुस्तकें नहीं पढ़ता था, पिता के संग्रहालय में जो भी पुस्तकें उसके हाथ लग जातीं छिपकर उन्हें पढ़ डालता। वहीं से एक दिन उसके हाथ एक ऐसी पुस्तक लगी जिसमें दुनियाभर के विषयों की चर्चा थी। नाम था 'संसार कोश'। विपद पड़ने पर गुरुजनों के दंड से कैसे मुक्ति पाई जाती है इसका भी एक मंत्र उसमें लिखा था। अपने सभी साथियों को उसने यह मंत्र सिखा दिया। मंत्र था, "ओम्, हं, ह्यूं, ह्यूं, रक्षरक्ष स्वाहा।"

केवल गुरुजनों के दंड से मुक्ति पाने का ही नहीं, साँपों को बस में करने का मंत्र भी उसे उसी में मिला था। शरत् उसकी परीक्षा करने को आतुर हो उठा। कुछ दिन पहले उसे साँप ने काट लिया था। बड़ी कठिनता से उसके प्राण बच सके थे। इसीलिए वह जनमेजय की तरह नागयज्ञ करने को और भी उत्सुक था। कोश में लिखा था कि एक हाथ लंबी बेल की जड़ किसी भी विषाक्त साँप के फण के पास रख देने पर पल-भर ही में वह साँप सिर नीचा कर निर्जीव हो जाएगा।

बड़े उत्साह के साथ उसने बेल की जड़ ढूँढ़ निकाली। साँपों की कोई भी कमी नहीं थी। लेकिन उस दिन शायद उन्हें इस मंत्र का पता लग गया था। इसलिए बहुत खोज करने पर भी कोई साँप नहीं दिखाई दिया। अंत में अमरूद के एक पेड़ के नीचे मलबे में एक गोखरू साँप के बच्चे का पता लगा। खुशी से भरकर शरत् अपने दल सहित वहाँ जा पहुँचा और उसे बाहर निकलने को छेड़ने लगा। बालकों के इस अत्याचार से क्षुब्ध होकर साँप के उस बच्चे ने अपना फण उठा लिया। शरत् इसी क्षण की राह देख रहा था, तुरंत आगे बढ़कर बेल की जड़ उसके सामने कर दी। विश्वास था कि अभी वह साँप सिर नीचा करके सबसे क्षमा-प्रार्थना करेगा, लेकिन निस्तेज होना तो दूर वह बच्चा बार-बार उस जड़ को डसने लगा। यह देखकर बालक भयातुर हो उठे। तब मणि मामा कहीं से लाठी लेकर आए और उन्होंने सनातन रीति से उस बाल सर्प का संहार कर डाला।

ऐसा लगता है, तब तक शरत् की भेंट 'विलासी' के 'मृत्युंजय' से नहीं हुई थी। जड़ दिखाने से पूर्व एक काम और भी तो करना होता है, "जिस साँप को जड़ी दिखाकर भगाना हो पहले उसका मुँह गरम लोहे की सींक से कई बार दाग दो, फिर उसे चाहे जड़ी दिखाई जाए, चाहे कोई मामूली-सी सींक, उसे भागकर जान बचाने की ही सूझेगी।" 'श्रीकांत' और 'विलासी' आदि अपनी रचनाओं में कथाशिल्पी शरत्चंद्र ने इस विद्या की अच्छी चर्चा की है।

इन शरारतों के बीच कभी-कभी यह भी देखा जाता कि दलपति गैरहाज़िर है। पुकार उठती, "कहाँ गए शरत् दा?"

"यहीं तो थे।"

"कहाँ थे?"

कुछ पता न लगता परंतु जब खोज-खोजकर सब थक जाते तो न जाने कहाँ से आकर वह स्वयं हाज़िर हो जाता। बच्चे उसे घेर लेते और पूछते, "कहाँ चले गए थे?"

"तपोवन!"

"यह तपोवन कहाँ है, हमें भी दिखाओ।"

उसने किसी को भी तपोवन का पता नहीं बताया, लेकिन सुरेंद्र मामा से उसकी सबसे अधिक पटती थी। शायद इसलिए कि सुरेंद्र ने उसकी माँ का दूध पिया था। वह अभी छोटा ही था कि उसकी माँ के फिर संतान होने की संभावना दिखाई दी। उधर शरत् का छोटा भाई शैशव में ही चल बसा था। तब उसकी माँ ने सुरेंद्र को अपना दूध पिलाकर पाला था। इसलिए बहुत अनुनय-विनय करने पर एक दिन वह उसको साथ लेकर अपने तपोवन गया। जाने से पूर्व उसने सुरेंद्र से कहा, "मैं तुझे वहाँ ले तो चलूँगा, परंतु तू सूर्य, गंगा और हिमालय को साक्षी करके यह प्रतिज्ञा कर कि किसी और को इस स्थान का पता नहीं बताएगा।"

सुरेंद्र बोला, "मैं सूर्य को साक्षी करके प्रतिज्ञा करता हूँ कि किसी और को इस स्थान का पता नहीं बताऊँगा।"

"मैं गंगा को साक्षी करके प्रतिज्ञा करता हूँ कि किसी और को इस स्थान का पता नहीं बताऊँगा।"

"मैं हिमालय को साक्षी करके प्रतिज्ञा करता हूँ कि किसी और को इस स्थान का पता नहीं बताऊँगा।"

"अब चल!"

घोष परिवार के मकान के उत्तर में गंगा के बिलकुल पास ही एक कमरे के नीचे, नीम और करौंदे के पेड़ों ने उस जगह को घेरकर अंधकार से आच्छन्न कर रखा था। नाना लताओं ने उस स्थान को चारों ओर से ऐसे ढँक लिया था कि मनुष्य का उसमें प्रवेश करना बड़ा कठिन था। बड़ी सावधानी से एक स्थान की लताओं को हटाकर शरत् उसके भीतर गया। वहाँ थोड़ी-सी साफ़-सुथरी जगह थी। हरी-भरी लताओं के भीतर से सूर्य की उज्ज्वल किरणें छन-छनकर आ रही थीं और उनके कारण स्निग्ध हरित प्रकाश फैल गया था। देखकर आँखें जुड़ाने लगीं और मन गद्‌गद होकर मानो किसी स्वप्नलोक में पहुँच गया। एक बड़ा-सा पत्थर वहाँ रखा था। उसके ऊपर बैठकर शरत् ने सुरेंद्र को बुलाया, "आ!"

सुरेंद्र डरते-डरते पास जा बैठा। नीचे खरस्रोता गंगा बह रही थी। दूर उस पार का दृश्य साफ़-साफ़ दिखाई दे रहा था। मंद-मंद शीतल पवन की मृदु हिलोरें शरीर को पुलक से भर रही थीं। सुरेंद्र ने मुग्ध होकर कहा, "यह जगह तो बहुत सुंदर है।"

शरत् बोला, "हाँ, इस जगह आकर बैठना मुझे बहुत अच्छा लगता है। न जाने क्या-क्या सोचा करता हूँ। बड़ी-बड़ी बातें सब यहीं दिमाग में आती हैं।"

सुरेंद्र ने कहा, "सचमुच ऐसा लगता है कि जैसे तपोवन में आ गया हूँ। आज समझा हूँ कि इस बार तुमने अंकगणित में सौ में से सौ अंक कैसे पाए थे।"

न जाने कितनी बार वह इस पवित्र मौन-एकांत में आकर बैठा होगा। दूर से आती बच्चों की शरारतों की आवाज़ें गंगा की कल-कल ध्वनि में मिलकर एक रहस्यमय वातावरण का निर्माण करती होंगी। प्रकृति का सौंदर्य जैसे उसके थके तन-मन को सहलाता होगा और तब उसने मन-ही-मन प्रतिज्ञा की होगी, "मैं सूर्य, गंगा और हिमालय को साक्षी करके प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं जीवन-भर सौंदर्य की उपासना करूँगा, कि मैं जीवन-भर अन्याय के विरुद्ध लड़ूँगा, कि मैं

कभी छोटा काम नहीं करूँगा।" उसने अनुभव किया होगा कि घर में एकांत नहीं है। ज़रा-ज़रा-सी ध्वनि मस्तिष्क में प्रतिध्वनि पैदा करती है और उभरते हुए चित्र को धुँधला कर देती है...तभी उसने इस तपोवन को ढूँढ़ निकाला होगा।

लेकिन उसने अंकगणित में ही शत-प्रतिशत अंक नहीं पाए थे, अंग्रेज़ी स्कूल के प्रथम वर्ष में उसने परीक्षा में प्रथम स्थान भी पाया था। हुआ यह कि छात्रवृत्ति की परीक्षा पास करने के बाद अंग्रेज़ी पढ़ने के लिए उसे नीचे की कक्षा में दाखिल होना पड़ा, इसलिए दूसरे विषय उसके लिए सहज हो गए और वह बीच में ही एक वर्ष लाँघकर ऊपर की कक्षा में पहुँच गया। इन सब बातों से जहाँ मित्रों में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी, वहाँ गुरुजन भी आश्वस्त हो गए।

स्कूल में एक छोटा-सा पुस्तकालय भी था। वहीं से लेकर उसने उस युग के सभी प्रसिद्ध लेखकों की रचनाएँ पढ़ डालीं। युगसंधि के उस काल में जब कर्ता लोग चंडी-मंडप में बैठकर चौपड़ को लेकर शोर मचाते तब किशोर-वय के लोग चोरी-चोरी बंकिम-रवींद्र की पुस्तकों के पन्ने पलटते। लेकिन शरत् केवल पढ़ता ही नहीं था, उसको समझने और आसपास के वातावरण का सूक्ष्म अध्ययन करने की सहज प्रतिभा भी उसमें थी। वह हर वस्तु को करीब से देखता था।

उस दिन अवकाश प्राप्त अध्यापक अघोरनाथ अधिकारी स्नान के लिए गंगा घाट की ओर जा रहे थे। कपड़े उठाए पीछे-पीछे चल रहा था शरत्। एक टूटे हुए घर के भीतर से एक स्त्री के धीरे-धीरे रोने का करुण स्वर सुनाई दिया। अधिकारी महोदय ठिठक गए। बोले, "यह कौन रोता है? क्या हुआ इसे?"

शरत् ने उत्तर दिया, "मास्टर मुशाई, इस नारी का स्वामी अंधा था। लोगों के घरों में कामकाज करके यह उसको खिलाती थी। कल रात इसका वह अंधा स्वामी मर गया। वह बहुत दुखी है। दुखी लोग बड़े आदमियों की तरह दिखाने के लिए ज़ोर-ज़ोर से नहीं रोते। उनका रोना दुख से विदीर्ण प्राणों का क्रंदन होता है। मास्टर मुशाई, यह सचमुच का रोना है।"

छोटी आयु के बालक से रोने का इतना सूक्ष्म विवेचन सुनकर अघोर बाबू विस्मित हो उठे। वे कलकत्ता रहते थे। लौटकर उन्होंने अपने एक मित्र से इस

घटना की चर्चा की। मित्र ने कहा, "जो रुदन के विभिन्न रूपों को पहचानता है, वह साधारण बालक नहीं है। बड़ा होकर वह निश्चय ही मनस्तत्व के व्यापार में प्रसिद्ध होगा।"

लेकिन गांगुली परिवार में उसकी इस सहज प्रतिभा को पहचानने वाला कोई नहीं था। इस घोर आदर्शवादी परिवार में केवल एक ही व्यक्ति ऐसा था जिस पर नवयुग की हवा का कुछ प्रभाव हुआ था। वे थे केदारनाथ के चौथे भाई अमरनाथ। वे शौकीन तबीयत के थे। कबूतर पालते थे। और उस युग में कंघा, शीशा और ब्रुश इत्यादि का प्रयोग करते थे। सिर पर अंग्रेज़ी फ़ैशन के बाल भी रखते थे। घर के बालक उनके इस रूप पर मुग्ध थे। मुग्ध होने का एक और भी कारण था। दफ़्तर से लौटकर वे रोज़ उन्हें कुछ न कुछ देते थे। जैसे पीपरमेंट की गोलियाँ इत्यादि। लेकिन इसी कारण बड़े भाई उनसे अप्रसन्न थे। और इसी कारण एक दिन चोटी रखकर शेष बाल उन्हें कटा देने पड़े थे।

पढ़ने में भी उनकी रुचि कम नहीं थी। बंकिमचंद्र के 'बंगदर्शन' का प्रवेश उन्हीं के द्वारा गांगुली परिवार में हो सका था। यह 'बंगदर्शन' बाँग्ला साहित्य में नवयुग का सूचक था। गांगुली लोगों के हाली शहर से बंकिमचंद्र का 'कांठालपाड़ा' दूर नहीं था। उस गाँव की एक लड़की इस परिवार में वधू बनकर भी आई थी, लेकिन 'घर का जोगी जोगना आन गाँव का सिद्ध'। बंकिमचंद्र की यहाँ तनिक भी प्रतिष्ठा नहीं थी। नवयुग के संदेशवाहक होने के नाते इस कट्टर परिवार में अगर थी तो थोड़ी-बहुत अप्रतिष्ठा ही थी, लेकिन फिर भी अमरनाथ चोरी-छिपे 'बंगदर्शन' लाते थे। उनसे वह भुवनमोहनी के द्वारा मोतीलाल के पास पहुँचता था और वहाँ से कुसुमकामिनी की बैठक में।

दुर्भाग्य से अमरनाथ बहुत दिन जी नहीं सके। बच्चों को अपार व्यथा में डुबोकर वे छोटी आयु में ही स्वर्गवासी हो गए। उनकी कमी किसी सीमा तक मोतीलाल और कुसुमकामिनी ने पूरी की। कुसुमकामिनी सबसे छोटे नाना अघोरनाथ की पत्नी थीं। छात्रवृत्ति परीक्षा पास करके स्वयं उन्होंने ईश्वरचंद्र विद्यासागर के हाथों से पारितोषिक पाया था। जैसा कि होता आया है, तब भी स्त्रियों का मुख्य कार्य था, रसोई का जुगाड़ करना और घर-गृहस्थी के दूसरे कार्य

संँभालना। उससे समय बचा तो जीवन को जीवंत बनाने के लिए कलह करना या सोना। फिर जागने पर परनिंदा में रस लेना, लेकिन कुसुमकामिनी यह सब नहीं कर पाती थीं। जिस दिन उनकी रसोई बनाने की बारी नहीं होती थी, उस दिन उनकी बैठक में (या ऊपर छत पर) एक छोटी-मोटी गोष्ठी होती थी। उसमें वे स्वयं 'बंगदर्शन' के अतिरिक्त 'मृणालिनी', 'वीरांगना', 'बृजांगना', 'मेघनाद वध' और 'नीलदर्पण' पढ़कर सुनाती थीं। उनका स्वर और पढ़ने की शैली इतनी मर्मस्पर्शी थी कि सभी निस्पंद हो उठते थे। बालक शरत् आश्चर्य और आदर से भरकर सोचता कि लेखक भी कितना असाधारण व्यक्ति होता है। संभवत: उसके मन में तब लेखक बनने की बात नहीं उठी थी। पर उसने लेखक को मनुष्य से ऊपर अवश्य माना था। यह उसके उपार्जन करने का युग था, लेखक बनने का नहीं। इस गोष्ठी में उसने साहित्य का पहला पाठ पढ़ा था और फिर बहुत दिन बाद पढ़ी 'बंगदर्शन' में कविगुरु की युगांतरकारी रचना 'आँख की किरकिरी'। पढ़कर उस किशोर को जो गहरे आनंद की अनुभूति हुई, उसको न वह किसी को बता सका, न जीवन-भर भूल ही सका। अब तक उसका मन भूत-प्रेतों की कहानियों से ही आतंकित रहा था। इस नए जीवन-दर्शन ने उसे प्रकाश और सौंदर्य के एक नए जादूभरे संसार में पहुँचा दिया। जैसे पुश्किन की रचना पढ़ने के बाद ताल्सताय पुकार उठे थे, "मैं पुश्किन से बहुत कुछ सीख सकता हूँ। वे मेरे पिता हैं। वे मेरे गुरु हैं।" वैसे ही शरत् ने कहा होगा, "मैं उनसे बहुत कुछ सीख सकता हूँ। वे आज से मेरे गुरु हुए।"

और सचमुच शरत् जीवन के अंतिम क्षण तक उन्हें अपना गुरु ही मानते रहे।

वास्तव में मणि-शरत् की शिक्षा का आदि पर्व कुसुमकामिनी की पाठशाला में ही शुरू हुआ था। पाठ्यपुस्तक का क्रम समाप्त होने पर साहित्य की बारी आती थी। शैशव से लेकर यौवन के प्रारंभ होने तक इस क्रम में कोई व्यवधान नहीं पड़ा। अपराजेय कथाशिल्पी शरत्चंद्र के निर्माण में कुसुमकामिनी का जो योगदान है उसे कभी नहीं भुलाया जा सकेगा।

इसी गोष्ठी में अचानक एक दिन क्रांति हो गई। एक नए स्रोत से आकर उस दिन रवींद्रनाथ की कविता 'प्रकृतिर प्रतिशोध' का स्वर गूँज उठा। पढ़नेवाले थे

उसी परिवार के एक व्यक्ति। वे बाहर रहकर पढ़े थे। इस परिवार में वर्जित संगीत और काव्य में उनकी दिलचस्पी थी। उस कविता को सुनाने के लिए उन बंधु ने परिवार की सभी नारियों को इकट्ठा किया था। किसने कितना समझा, पता नहीं, लेकिन शरत् की आँखों में आँसू आ गए। उन्हें छिपाने के लिए वह उठकर बाहर चला गया।

(3)

नाना के इस परिवार में शरत् के लिए अधिक दिन रहना संभव नहीं हो सका। उसके पिता न केवल स्वप्नदर्शी थे, बल्कि उनमें कई और दोष थे। वे हुक्का पीते थे, और बड़े होकर बच्चों के साथ बराबरी का व्यवहार करते थे। उनकी शरारतों में वे सदा अपरोक्ष रूप से सहायता करते थे। जब उनमें से किसी को गोदाम में बंद करने की सज़ा मिलती तो वे चुपचाप उन्हें खाना दे आया करते थे। जब वे छूटते तो फूलों की माला तैयार करके उन्हें प्रसन्न कर देते थे। उनके बनाए कागज़ के नाना प्रकार के खिलौने बच्चों में बहुत लोकप्रिय थे। बड़े यत्न से वे स्लेट-पेंसिल लेकर उन्हें सुंदर अक्षर लिखना सिखाते थे। उनके लिए गंगा-स्नान का प्रबंध कर देते थे। कैसा आनंद है गंगा में कूदने में, यह बच्चे ही जानते हैं। तभी तो उनके लिए वे मरुस्थल में शाद्वल के समान थे। उनकी संवेदनशीलता अपरिसीम थी।

एक तो घर-जँवाई, इसके उपरांत कठोर अनुशासन वाले परिवार में ऐसा बर्ताव करना, इसी कारण वहाँ उनकी स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। उनका स्वतंत्र व्यक्तित्व जैसे समाप्त हो गया था। जैसे उनके तन-मन दोनों को किसी ने खरीद लिया हो। उनका अपना उनके पास कुछ नहीं था। 'काशीनाथ' में काशीनाथ भी तो घर-जँवाई होकर रहता है। उसे भी मानसिक सुख नहीं है। "कभी-कभी वह ऐसा महसूस करने लगता, जैसे अचानक उसे किसी ने गरम पानी के कड़ाहे में छोड़ दिया हो। मानो सब ने मिलकर, सलाह करके उसकी देह को खरीद लिया हो। मानो अब वह उसकी अपनी नहीं रही।"

फिर भी किसी तरह दिन बीत रहे थे कि अचानक एक दुर्घटना हो गई। केदारनाथ की पत्नी विंध्यवासिनी देवी तांगे में कहीं जा रही थीं कि वह उलट गया।[1] उनके काफ़ी चोट आई। बहुत प्रयत्न करने पर भी वह भागलपुर में ठीक नहीं हो सकीं। डॉक्टर ने कहा, "इन्हें कलकत्ता ले जाइए।"

काफ़ी व्ययसाध्य बात थी और परिवार की आर्थिक स्थिति तब तक बिगड़ चुकी थी। भाई अलग-अलग रहने लगे थे। उनमें से अमरनाथ की मृत्यु हो चुकी थी और उनकी पुत्री विवाह के योग्य थी। पितृहीन कन्या का विवाह देर से होने पर अपवाद उठ खड़ा होने का डर रहता है। केदारनाथ करें तो क्या करें? एक दिन उन्होंने मोतीलाल को बुलाया, कहा, "अब तुम्हारा यहाँ रहना संभव नहीं है। देवानंदपुर जाकर कोई काम करने का प्रयत्न करो।"

मोतीलाल ने सुन लिया, भुवनमोहिनी ने भी सुन लिया। कोई रास्ता नहीं था। शिकवा-शिकायत करतीं भी तो किससे करतीं और कैसे करतीं। इसीलिए शरत् ने एक दिन पाया कि वह फिर देवानंदपुर लौट आया है।

लेकिन लौट आने से पूर्व उसका परिचय गांगुली परिवार के पड़ोस में रहने वाले मजूमदार परिवार के राजू से हो चुका था। वह परिचय अनायास ही नहीं हो गया था। इसके पीछे प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा का काफ़ी बड़ा इतिहास है।

श्यामवर्ण, स्वस्थ चेहरा, आजानबाहु, मुख पर चेचक के सामान्य निशान, शरीर में जितनी शक्ति मन में उतना ही साहस, ऐसे राजेंद्रनाथ उर्फ़ राजू के पिता रामरतन मजूमदार डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर होकर भागलपुर आए थे, लेकिन मतभेद हो जाने पर उन्हें त्यागपत्र देते देर न लगी। ठीक गांगुलियों के पास उनका घर था और आसपास की ज़मीन को लेकर दोनों परिवारों में काफ़ी मनमुटाव भी था। उस समय वहाँ घना वन था। माता-पिता के अनुशासन से पीड़ित बालक इसी वन में शरण ग्रहण करते थे। धूम्रपान, गाँजा और चरस के साथ-साथ भैंसों का दूध चुराकर शरीर बनाने का काम यहाँ निरंतर चलता था।

रामरतन मजूमदार ने अपने सात बेटों के लिए सात कोठियाँ बनवाईं, लेकिन उनके परिवार में कुछ ऐसी बातें थीं, जिनके लिए पुरातनपंथी बंगाली समाज उन्हें

1. सन् 1888 ई.

कभी क्षमा नहीं कर सका। वे लोग चीनी मिट्टी के प्यालों में खाना खा लेते थे। मुसलमान बैरे से काँच के गिलास में पानी लेने और छोटे भाई की विधवा पत्नी से बातें करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। वे मोज़े पहनते, दाढ़ी रखते, क्लब जाते और बातों में दर्शन का पुट देते थे।

पिता की स्वाधीनचेता परंपरा को राजू ने चरम सीमा तक पहुँचा दिया था। पतंगबाज़ी के द्वंद्वयुद्ध में शरत् की तरह वह भी पारंगत था। इसलिए स्वाभाविक रूप से दोनों एक-दूसरे को हराने की कामना करते थे। राजू के पास पैसे का बल था। पतंग का बढ़िया से बढ़िया सरंजाम जुटाने में उसे ज़रा भी कठिनाई नहीं हुई। लेकिन शरत् के पास पैसा कहाँ से आता। उसके दल ने बोतल के काँच को मैदा की तरह पीसकर और उसमें नाना उपक्रम मिलाकर माँझा तैयार किया। उस दिन शनिवार था। संध्या होते ही शरत् की गुलाबी पतंग मनचाही दिशा में उड़ चली। उसी समय देखा गया कि एक सफ़ेद पतंग धीरे-धीरे उसके पास आ रही है। यह थी राजू की पतंग। बस द्वंद्वयुद्ध आरंभ हो गया। पेंच पर पेंच लड़े जाने लगे। दोनों दल अपनी-अपनी विजय के लिए उत्तेजित हो उठे। 'वह मारा', 'वह काटा' का कर्णभेदी स्वर सबको डोलायमान करने लगा। सहसा लोगों ने देखा कि सफ़ेद पतंग कटकर इधर-उधर लड़खड़ाती हुई धरती की ओर आ रही है। फिर क्या था, शरत् के दल के हर्ष का पारावार नहीं रहा। उधर राजू ने उसी क्षण पतंग का सभी सरंजाम गंगा को अर्पित कर दिया।

लेकिन इसी प्रतियोगिता और संघर्ष के बीच से होकर वे धीरे-धीरे एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होने लगे। राजू असाधारण प्रवृत्ति का बालक था—अमित साहस, अपूर्व प्रत्युत्पन्नमति, सब कार्यों में सफलता प्राप्त करने वाला। शरत् की स्थिर, धीर और शांत बुद्धि अभिभावकों के दुर्ग की मोटी दीवारों को लाँघकर उसे चकित करती रहती थी और वह उससे मित्रता करने के लिए आतुर हो उठता था।

आखिर एक दिन सब विघ्न-बाधाओं को लाँघकर दोनों किशोर एक हो गए। राजू, जो आयु में बड़ा था, शीघ्र ही शरत् के सभी दुस्साहसिक कार्यों का मंत्रदाता बन गया। उन दोनों की मित्रता का एक और कारण था, संगीत और अभिनय के प्रति दोनों का समान प्रेम। शरत् का कंठ अत्यंत मधुर था।

बार–बार इस मित्रता के संबंध में उसे चेतावनी मिली होगी पर तत्कालीन सदाचार और अनुशासन क्या कभी उसे बाँधकर रख सके। उस परिवार के मुखियों में ऐसा एक भी नहीं था, जो उसे प्रेरणा और सराहना के दो शब्द भी कहता। यही समय तो जीवन के सर्वांगीण विकास का प्रारंभिक काल माना जाता है। तब उसके लिए यह स्वाभाविक था कि वह परिवार के बाहर प्रेरणा के स्रोत खोजता, क्योंकि प्रारंभ से ही उसमें वे गुण विद्यमान थे जो व्यक्ति को महान बनने का अवसर देते हैं।

(4)

मोतीलाल चट्टोपाध्याय चौबीस परगना ज़िले में कांचड़ापाड़ा के पास मामूदपुर के रहने वाले थे। उनके पिता बैकुंठनाथ चट्टोपाध्याय संभ्रांत राढ़ी ब्राह्मण परिवार के एक स्वाधीनचेता और निर्भीक व्यक्ति थे। और वह युग था प्रबल प्रतापी ज़मींदारों के अत्याचार का, लेकिन वे कभी उनसे दबे नहीं। उन्होंने सदा प्रजा का ही पक्ष लिया। इसीलिए एक दिन उनके क्रोध का शिकार हो गए। सुना गया कि एक दिन ज़मींदार ने उन्हें बुलाकर किसी मुकदमे में गवाही देने के लिए कहा। उन्होंने उत्तर दिया, "मैं गवाही कैसे दे सकता हूँ? उसके बारे में मैं कुछ भी नहीं जानता।"

ज़मींदार ने कहा, "गवाही देने के लिए जानना ज़रूरी नहीं है।"

झूठी गवाही आज भी दी जाती है। उस दिन भी दी जाती थी, लेकिन बैकुंठनाथ ने साफ़ इनकार कर दिया। प्रबल प्रतापी ज़मींदार क्रुद्ध हो उठा।

कारण कुछ और भी हो सकता है। एक दिन अचानक वे घर से गायब हो गए। मोतीलाल तब बहुत छोटे थे। शिशु पुत्र को गोद में चिपकाए बैकुंठनाथ की पत्नी रात भर पति की राह देखती रही, लेकिन वे नहीं लौटे। सबेरा होते–होते एक आदमी ने आकर कहा, "बहू माँ...बहू माँ, अनर्थ हो गया। बैकुंठनाथ को किसी ने मार डाला। उनका शव स्नानघाट पर पड़ा है।"

बहू माँ की जैसे चीख निकल गई। हतप्रभ-विमूढ़ उन्होंने बालक को कसकर छाती से लगा लिया। वह न बोल सकती थीं और न बेहोश हो सकती थीं। ज़मींदार का इतना आतंक था कि वह चिल्लाकर रो भी नहीं सकती थीं। उसका अर्थ होता, पुत्र से भी हाथ धो बैठना। गाँव के बड़े-बूढ़ों की सलाह के अनुसार उसने जल्दी-जल्दी पति की अंतिम क्रिया समाप्त की और रातोंरात देवानंदपुर अपने भाई के पास चली गईं।

कुछ बड़े होने पर मोतीलाल का विवाह भागलपुर के केदारनाथ गंगोपाध्याय की दूसरी बेटी भुवनमोहिनी से हुआ। उस समय के बहुत से बंगालियों की तरह केदारनाथ के पिता रामधन गंगोपाध्याय घोर दारिद्र्य से तंग आकर जीविका की तलाश में, हाली शहर से यहाँ आकर बस गए थे। वे इतने प्रतिभाशाली और परिश्रमशील थे कि सरकार में ऊँचे पद पर पहुँचने में उन्हें देर नहीं लगी। फिर तो संपन्नता और प्रतिष्ठा दोनों ने ही उनका मुक्त होकर वरण किया। लेकिन उस समय विवाह के लिए संपन्नता की आवश्यकता नहीं होती थी। होती थी कुलीनता और वंशमर्यादा की। मोतीलाल को सद्वंश की कुलीन संतान जानकर ही केदारनाथ ने अपनी कन्या उन्हें दी। उन्हीं के पास रहकर मोतीलाल ने मैट्रिक की परीक्षा पास की। उसके बाद पढ़ने के लिए वे पटना कालेज चले गए। चचिया ससुर अघोरनाथ उनके सहपाठी थे। लेकिन दोनों के स्वभाव में ज़रा भी समानता नहीं थी। मोतीलाल घोर अभाव में पले थे, परंतु माँ उन्हें बहुत प्यार करती थी, इसलिए बचपन में कोई ठीक दिशा उन्हें नहीं मिल सकी। उन्हें पढ़ने-लिखने का बहुत शौक था, परंतु उससे अधिक शौक था कल्पनाओं में डूबे रहने का, "मुझे कल्पना की गोद में सिर रखकर सो जाने दो। मैं उस संसार को देखना चाहता हूँ जिसका यह संसार प्रतिबिंब है।" मोतीलाल यही कुछ थे।

उसके विपरीत अघोरनाथ थे कर्मठ, खरे और स्पष्टवादी। ऐसी स्थिति में कल्पनाप्रिय मोतीलाल से उनकी घनिष्ठता कैसे हो सकती थी? कालेज में भी वे बहुत अधिक देर नहीं टिक सके। देवानंदपुर लौटकर कोई नौकरी करने लगे। उन दिनों इंट्रेंस पास के लिए नौकरी पा लेना बहुत कठिन नहीं था। मामा ने अपने

घर के पास उन्हें थोड़ी-सी ज़मीन दे दी थी। कुछ रुपया जोड़कर उन्होंने बरामदे सहित दो कोठरियों का एक मंज़िला, दक्षिणद्वारी, पक्का घर बनवा लिया। इसी में रहकर वे अपनी गृहस्थी चलाने लगे।

मोतीलाल की माँ साहसी सुगृहिणी थीं, तो उनकी पत्नी शांत प्रकृति, निर्मल चरित्र और उदारवृत्ति की महिला थीं। वह सुंदर नहीं थीं परंतु वैदूर्य मणि की तरह अंतर के रूप से रूपसी निश्चय ही थीं। उनके सहज पातिव्रत्य और प्रेम की छाया में स्वप्नदर्शी, यायावर पति की गृहस्थी चलने लगी। यहीं पर 15 सितंबर, 1876 ई॰ तदनुसार 31 भाद्र, 1283 बंगाब्द, आश्विन कृष्णा द्वादशी, संवत् 1933, शकाब्द 1798, शुक्रवार की संध्या को एक पुत्र का जन्म हुआ। वह अपने माता-पिता की दूसरी संतान था। चार-एक वर्ष पहले उसकी एक बहन अनिला जन्म ले चुकी थी। माता-पिता ने बड़े चाव से पुत्र का नाम रखा 'शरत्चंद्र'।

देवानंदपुर बंगाल का एक साधारण-सा गाँव है। हरा-भरा, ताल-तलैयों, नारियल और केले के वृक्षों से पूर्ण। मलेरिया की प्रचुरता भी कम नहीं है। नवाबी शासन में यह फ़ारसी भाषा की शिक्षा का केंद्र था। डेढ़ सौ वर्ष पहले रायगुणाकर कवि भारतचंद्र राय ने, फ़ारसी भाषा का अध्ययन करने के लिए, अपना कैशोर्य काल यहाँ बिताया था। इसकी गणना प्राचीन सप्त ग्रामों में होती है। तब समृद्ध भी रहा होगा। भारतचंद्र के समय इस गाँव में हरिराम राय और रामचंद्र दत्त मुंशी पढ़ाने-लिखाने का काम करते थे। इन्हीं से उन्होंने फ़ारसी पढ़ी और स्वयं दो पद्य लिखकर इन्हें अमर कर गए :

ए तिन जनार कथा, पंचाली प्रबंधे गाथा।
बुद्धि रूप कैल नाना जना।।
देवानंदपुर ग्राम देवेर आनंद धाम।
हरिराम रायेर वासना।।
देवेर आनंद धाम, देवानंदपुर नाम।
ताहे अधिकारी राम रामचंद्र मुंशी।।
भारते नरेंद्र राय, देशे जार यश गाय।
होये मोरे कृपादाय पड़ाइल पारसी।।

इसी गाँव में शरत् का बाल्यकाल अत्यंत अभाव में आरंभ हुआ। माँ न जाने कैसे गृहस्थी चलाती थीं। जानती थीं पति कैसे हैं। उनसे शिकवा-शिकायत व्यर्थ है। सार्थक यही है कि घर की शोभा बनी रहे। उन्होंने न कभी गहनों की माँग की, न कीमती पोशाक की ही। आत्मोत्सर्ग ही मानो उनका दाय था। जब भागलपुर में वे रहती थीं तब चाचाओं के इतने बड़े परिवार में यह उन्हीं का अधिकार था कि सब माँओं के बच्चों को अपनी छाती में छिपाकर उनकी देख-रेख करें। कौन कब आएगा? कौन कब जाएगा? किसको क्या और कब खाना है? ऐसे असंख्य प्रश्नों को सुलझाने में उन्हें साँस लेने की फ़ुरसत ही नहीं मिलती थी। निरंतर आवाज़ गूँजती रहती थी, "कहाँ है भुवन? ओ भुवन! अरे भुवन बेटी!"

मोतीलाल मानो आकाश में उड़नेवाली रंगीन पतंग थे। और भुवनमोहिनी थी निरंतर घूमते हुए चक्र के समान सीधी-सादी प्रकृति की महिला। उसका कोमल मन सबके दुख से द्रवित हो उठता था। इसीलिए सभी उसको प्यार करते थे, बड़े उसकी सेवा-परायणता पर मुग्ध थे, छोटे उसके स्नेह के लिए लालायित रहते थे। शरत्-साहित्य में खोजने पर ऐसे अनेक चरित्र मिल सकते हैं। माँ का ऋण चुकाने के लिए कथाकार शरत् ज़रा भी तो कृपण नहीं हुआ। लेकिन कैसी भी सरल और उदार नारी हो पति की अकर्मण्यता उसको ठेस पहुँचाती ही है। भुवनमोहिनी बहुत बार क्षुब्ध हो उठती, तब मोतीलाल चुपचाप घर से निकल जाते और देर तक बाहर ही रहते, 'शुभदा' के हारान बाबू की तरह।

(5)

शरत् जब पाँच वर्ष का हुआ तो उसे बाकायदा प्यारी (बंदोपाध्याय) पंडित की पाठशाला में भर्ती कर दिया गया, लेकिन वह शब्दशः शरारती था। प्रतिदिन कोई न कोई कांड करके ही लौटता। जैसे-जैसे वह बड़ा होता गया उसकी शरारतें भी बढ़ती गईं। उस दिन चटाई पर बैठे-बैठे उसने देखा कि पंडित जी चिलम में तंबाकू सजाकर कहीं चले गए हैं। बस वह उठा और चिलम में से तंबाकू हटाकर उसके स्थान पर ईंट के छोटे-छोटे टुकड़े रख दिए। पंडित जी ने लौटकर

चिलम में आग रखी और हुक्के पर रखकर गुड़गुड़ाने लगे, लेकिन धुआँ तो बाहर आ ही नहीं रहा। कई बार कोशिश की, पर व्यर्थ। तब चिलम को उलट-पलटकर देखा तो पाया कि तंबाकू के स्थान पर ईंट के टुकड़े रखे हुए हैं। समझ गए यह किसी विद्यार्थी का ही काम है। क्रुद्ध होकर उन्होंने पूछा, "सच बताओ, ये ईंट के टुकड़े चिलम में किसने रखे हैं?"

कुछ क्षण तक कोई कुछ नहीं बोला, लेकिन जब पंडित जी क्रोध से बार-बार चीत्कार करने लगे तो, डर के मारे एक लड़के ने शरत् का नाम ले दिया। सुनकर पंडित जी ने बेंत हाथ में उठाई और मारने के लिए उसकी ओर लपके। शरत् ने यह देखा तो तुरंत छलांग लगा दी। जाते समय उस लड़के को धक्का देना नहीं भूला जिसने उसका नाम लिया था। वह गिर पड़ा। पंडित जी उसको उठाने लगे और उसी बीच में शरत् यह जा और वह जा।

क्रोध से काँपते हुए पंडित जी शरत् के घर पहुँचे। उसकी कहानी सुनकर माँ के क्रोध का भी ठिकाना न रहा। घर लौटने पर उसने शरत् को खूब पीटा। बीच-बीच में अपने कपाल पर भी हाथ मारकर कहती, "क्या करेगा यह लड़का? कैसे चलेगा इसका काम?..." लेकिन सास ने उसे समझाया, "बहू, तू इसे मत मार! एक दिन इसकी मति लौट आएगी। और यह बहुत बड़ा आदमी होगा। मैं वह दिन देखने के लिए नहीं रहूँगी, लेकिन तू देख लेना, मेरी बात झूठ नहीं होगी।"

पंडित जी भी जब कभी उनके पास शिकायत लेकर पहुँचते तब उनसे भी वह बड़े शांत भाव से यही कहतीं, "पंडित जी, न्याड़ा[1] थोड़ा दुष्ट तो है पर बड़ा होकर यह भलामानस ही बनेगा।"

पंडित जी स्वयं कई बार उसकी शरारतों को अनदेखा कर जाते। एक तो वह पढ़ने में तेज़ था, दूसरे उनके बेटे काशीनाथ का परम मित्र भी था। काशीनाथ उसी स्कूल में पढ़ता था और उसी स्कूल में पढ़ती थी उसके एक मित्र की बहन। न जाने कैसे शरत् की उससे मित्रता हुई। वे अकसर दोनों एक साथ घूमते हुए दिखाई देते। जितना एक-दूसरे को चाहते उतना ही झगड़ा भी करते। नदी या तालाब पर

1. शरत् के पुकारने का नाम

मछली पकड़ना, नाव लेकर नदी में सैर करना, बाग से फल चुराना, पतंग का सरंजाम तैयार करना, वन-जंगल में घूमना, इन सब प्रकार के बाल सुलभ कामों में वह बालिका शरत् की संगिनी थी। असली नाम उसका क्या था किसी को पता नहीं परंतु सुभीते के लिए लोग उसे धीरू के नाम से जानते हैं।

धीरू को एक शौक था, करौंदों की ऋतु आती तो वह उनकी माला तैयार करती और शरत् को भेंट कर देती। शायद माल्यार्पण का अर्थ वह तब तक नहीं जानती थी। लेकिन समय के देवता ने एक न एक दिन यह रहस्य उन दोनों को समझा ही दिया होगा। वैसे उन दोनों का संबंध कम रहस्यमय नहीं था। गरमी के दिनों में एक दिन क्या हुआ—शरत् 'देवदास' की तरह पाठशाला के कमरे में एक कोने में एक फटी हुई चटाई के ऊपर बैठा था। स्लेट हाथ में लिए वह कभी आँखें खोलता, कभी मूँदता, कभी पैर फैलाकर जमुहाई लेता। अंत में वह बहुत ही चिंताशील हो उठा। उसने निश्चय किया कि ऐसा समय गुड्डी उड़ाते हुए घूमने-फिरने के लिए होता है। बस क्षण-भर में एक युक्ति उसे सूझ गई। पाठशाला में उस समय जलपान की छुट्टी थी। बालक नाना प्रकार के खेल खेलते हुए शोरगुल कर रहे थे। वह शरारती था, इसलिए उसे छुट्टी नहीं मिली थी। एक बार पाठशाला से निकलता तो लौटकर नहीं आता। कक्षा के प्रमुख छात्र भोलू की देखरेख में उसे पढ़ने की आज्ञा थी।

उसने देखा कि पंडित जी सो रहे हैं और भोलू टूटी हुई बेंच पर ऐसे बैठा है जैसे पंडित जी हों। वह चुपचाप स्लेट लेकर उसके पास पहुँचा। बोला, "यह सवाल समझ में नहीं आ रहा है।"

भोलू ने गंभीर होकर कहा, "लाओ ज़रा स्लेट, देखूँ तो।"

जिस समय भोलू ज़ोर-ज़ोर से बोलकर सवाल निकालने की चेष्टा कर रहा था, उसी समय एक घटना घट गई। सहसा भोलू बेंच के पास जो चूने का ढेर लगा हुआ था उसमें जा गिरा और शरत् का फिर कहीं पता न लगा। धीरू यह देखकर ज़ोर-ज़ोर से तालियाँ बजा-बजाकर हँसने लगी। उसी समय पंडित जी जाग उठे। भोलू का रूप तब देखते ही बनता था। सिर से पैर तक चूने में रंगकर भूत की तरह दिखाई देता था। और रोना उसका किसी तरह भी बंद नहीं हो रहा था। पंडित जी को स्थिति समझते देर नहीं लगी। बोले, "तो वह शरता हरामज़ादा तुझे धक्का देकर भाग गया है?"

भोलू ने किसी तरह कहा, "आं, आं!"

उसके बाद शरत् की जो खोज मची वह किसी छोटी-मोटी सेना के आक्रमण से कम नहीं थी। लड़के नाना प्रकार की बातें करते उसे ढूँढ़ रहे थे, लेकिन कोई उसको पकड़ नहीं सका। जिस किसी ने उसके पास पहुँचने की चेष्टा की उसी पर उसने ईंट फेंक मारी।

धीरू सब कुछ देख रही थी। वह यह भी जानती थी कि शरत् इस समय कहाँ गया होगा। थोड़ी देर बाद उसने अपने आँचल में मूड़ी बाँधी और ज़मींदार के आम के बाग में प्रवेश किया। वहीं एक बाँस का भिढ़ा था। पास पहुँचकर उसने देखा, शरत् वहाँ बैठा हुआ हुक्का पी रहा है। उसे देखते ही बोला, "लाओ, क्या लाई हो?"

और यह कहते-कहते उसके आँचल में से मूड़ी खोलकर खाने लगा। वह खाता रहा और धीरू पंडित जी की बात सुनाती रही। अचानक वह बोला, "पानी लाई हो?"

धीरू ने कहा, "पानी तो नहीं लाई।"

शरत् बिगड़कर बोला, "तो अब जाकर लाओ।"

धीरू को यह अच्छा नहीं लगा। कहा, "अब मैं नहीं जा सकती। तुम चलकर पी आओ।"

"मैं यहाँ से नहीं जा सकता। तुम्हीं जाकर ले आओ।"

धीरू नहीं उठी। शरत् ने गुस्सा होकर कहा, "जाओ, मैं कह रहा हूँ न।"

धीरू अब भी चुप रही। तब शरत् ने उसकी पीठ पर एक घूँसा मारा। कहा, "जाएगी कि नहीं?"

धीरू रो पड़ी। एकदम उठते हुए बोली, "मैं अभी जाकर तुम्हारी माँ से सब कुछ कह दूँगी। यह भी कहूँगी कि तुम हुक्का पी रहे हो।"

"कह दे, जा मर!"

उस दिन फिर शरत् को माँ के हाथों मार खानी पड़ी। धीरू फिर पिटी, लेकिन दोनों की मित्रता में इससे कोई अंतर नहीं पड़ा। वह निरंतर प्रगाढ़ ही होती गई। बहुत दिन बाद शैशव की इस संगिनी को आधार बनाकर शरत् ने अपने कई उपन्यासों की नायिकाओं का सृजन किया। 'देवदास' की पारो, 'बड़ी दीदी' की

माधवी और 'श्रीकांत' की राजलक्ष्मी, ये सब धीरू ही का तो विकसित और विराट रूप है। विशेषकर देवदास में तो जैसे उसने अपने बचपन को ही मूर्त रूप दिया है।

दिन पर दिन बीतते चले जाते थे, इन दोनों बालक-बालिका के आमोद की सीमा नहीं थी। दिन-भर धूप में घूमते-फिरते, संध्या को घर लौटकर मार खाते। रात को निश्चिंत-निरुद्वेग सो जाते। दूसरे दिन सवेरा होते ही फिर भाग जाते और फिर संध्या को तिरस्कार-प्रहार सहन करते। तीसरे दिन, चौथे दिन, बार-बार यही कहानी दोहराई जाती। इनका और कोई संगी-साथी नहीं था और न उसकी कोई ज़रूरत ही थी। गाँव भर में उपद्रव करते फिरने के लिए दोनों ही यथेष्ट थे।

बीच-बीच में मछली का शिकार और नाव खेकर दिन काटने के साथ-साथ शरत् यात्रादल[1] में जाकर शागिर्दी भी करता था। अपने मधुर कंठ के कारण वह उनके लिए बहुत उपयोगी था। लेकिन जब उससे भी उसका जी ऊब जाता तो अंगोछा कंधे पर रखकर निकल पड़ता। यह निकल पड़ना विश्वकवि के काव्य की निरुद्देश्य यात्रा नहीं थी। ज़रा दूसरे ढंग की थी। वह भी जब खत्म हो जाती तो फिर एक दिन चोट खाए हुए अपने चरणों को तथा निर्जीव देह को लेकर घर वापस लौट आता। वहाँ आवभगत होती और उसके बाद 'बोधोदय' तथा 'पद्यपाठ' में दिल लगाने का क्रम चलता। फिर एक दिन सब किया-कराया भूल जाता। दुष्ट सरस्वती कंधे पर सवार हो जाती। फिर शागिर्दी शुरू होती। फिर घर से नौ दो ग्यारह हो जाता।

उस दिन सरस्वती नदी के घाट पर पहुँचा तो सामने डोंगी पड़ी हुई थी। बस उसमें जा बैठा और उसे खेता हुआ पहुँच गया तीन-चार मील दूर कृष्णपुर गाँव में। वहाँ रघुनाथ बाबा का प्रसिद्ध अखाड़ा था। वहीं जाकर कीर्तन में हाज़िर हो गया। रात हो गई, फिर लौटना नहीं हो सका। अगले दिन पता लगाते-लगाते मोतीलाल स्वयं उसे लेने के लिए वहाँ पहुँचे। लेकिन यह एक दिन की अनायास यात्रा नहीं थी। किसी बड़ी यात्रा का आरंभ था। कभी अकेले, कभी मित्रों के साथ उसका वहाँ जाना जारी रहा।

---

1. जात्रादल, नाट्यदल (बंगाल में एक विशेष प्रकार की नाटक मंडली जो खुले में गाँव में नाटक करती है। इसे पाला भी कहते हैं)।

इन्हीं दिनों गाँव में सिद्धेश्वर भट्टाचार्य ने एक नया बाँग्ला स्कूल खोला। शायद वहाँ मन लगाकर पढ़ सके, इस खयाल से उसे वहाँ दाखिल किया गया, लेकिन उसके कार्यक्रम में कोई अंतर नहीं पड़ा। साल भर यूँ ही निकल गया। तभी अचानक मोतीलाल को 'डेहरी आन सोन' में एक नौकरी मिल गई। पिता के साथ कुछ दिन वह भी वहाँ रहा। लेकिन वह सारा समय खेलकूद में ही बीता। वहाँ एक नहर थी, उसके किनारे पक्की खिरनियाँ बटोरता या फंदा डालकर गिरगिट पकड़ता या फिर घाट पर जाकर बैठ जाता और कल्पनाओं के आल-जाल में डूब जाता। सभी प्रकार की शरारतों के बीच में अंतर्मुखी होने का उसका स्वभाव निरंतर प्रगति करता जा रहा था। अपने इस अल्पकालिक डेहरी प्रवास को वह कभी नहीं भूल सका। 'गृहदाह' में उसने इस नगण्य स्थान को भी अमर कर दिया।

देवानंदपुर लौटने पर उसे एक और शौक लग गया। शौक तो पहले भी था पर अब वह सनक की सीमा तक जा पहुँचा था। सरस्वती नदी छोटी-सी उथली नदी है। पाट भी बहुत चौड़ा नहीं है। पानी कमर से ऊपर नहीं जाता। अकसर उसमें सिवार भरी रहती। बीच-बीच में जहाँ खुला था वहीं छोटी-छोटी मछलियाँ खेला करती थीं। बंसी में आटे की गोली लगाकर वह उसे पानी में डाल देता और बैठा रहता। एक दिन उसने देखा कि मोहल्ले का नयन बागदी दादी के पास आया है और कह रहा है, "माँजी, मुझे पाँच रुपये दो। मैं तुम्हारे पोते को दूध पिलाकर अदा कर दूँगा। एक अच्छी-सी गाय लाना चाहता हूँ। बसंतपुर में मेरा एक रिश्ते का भाई है। उसने कहला भेजा है।"

दादी ने उसे पाँच रुपये दे दिए और वह प्रणाम करके चला गया। तभी शरत् के मन में सहसा एक विचार कौंध आया। सुन रखा था कि बसंतपुर में छीप बनाने के लिए अच्छा बाँस मिलता है। बस वह चुपचाप नयन बागदी के पीछे-पीछे चल पड़ा। एक मील चलने के बाद नयन ने उसे देखा। वह बहुत नाराज़ हुआ, लालच भी दिया। लेकिन शरत् पर कोई असर नहीं हुआ। तब ज़बरदस्ती पकड़कर वह

उसे दादी के पास ले आया। बोला, "रास्ता ठीक नहीं है। खतरा है। अगर समय से न लौट सका तो आप ही बताइए गऊ को सँभालूँगा या इसको।"

दादी खतरे की बात जानती थी। उसने शरत् से कहा, "तू नहीं जाएगा और अगर चोरी से गया तो मैं पंडित जी से कह दूँगी।"

नयन चला गया। शरत् भी पोखर में नहाने का बहाना करके शरीर में तेल मलता हुआ, अंगोछा कंधे पर डालकर, घर से निकल पड़ा। नदी के किनारे-किनारे वन-जंगल और आम-कटहल के बागों के भीतर होकर दो-ढाई मील तक दौड़ता हुआ चला गया। जिस जगह पर गाँव का कच्चा रास्ता ग्रांड ट्रंक रोड की पक्की सड़क से जाकर मिलता है वहीं जाकर खड़ा हो गया। कुछ देर बाद नयन भी आ पहुँचा। शरत् को वहाँ देखकर हतप्रभ रह गया, पर अब लौटना संभव नहीं था। हँसकर बोला, "अच्छा देवता, चलो! जो भाग्य में होगा देखा जाएगा।"

बसंतपुर पहुँचकर नयन की बुआ ने उसकी खूब खातिर की। उसे गाय मिली और बालक शरत् को मिलीं बाँस की कमचियाँ। रुपये भी बुआ ने लौटा दिए। लौटते समय दिन डूब चला था। दो कोस भी नहीं चले होंगे कि चाँद निकल आया। रास्ते के दोनों ओर बड़े-बड़े पीपल और बरगद के पेड़ थे जो ऊपर जाकर आपस में ऐसे मिल गए थे कि राह में घना अँधेरा छा गया था। जब वे कच्ची राह पर पहुँचे तो झाड़-झंखाड़ों वाला वह जंगल और भी घना हो आया। इसी जंगल में तो लुटेरे आदमी को मारकर गाड़ देते थे और पुलिस उधर मुँह भी नहीं करती थी। गाँव का आदमी भी रिपोर्ट करने नहीं जाता था क्योंकि उन्हें शिक्षा मिली थी कि पुलिस के पास जाना आफ़त बुलाना है। बाघ के सामने पड़कर भी दैव-संयोग से कभी प्राण बच सकते हैं लेकिन पुलिस के पल्ले पड़कर नहीं। यहीं पहुँचकर सहसा उन्हें कुछ दूर पर चीख सुनाई दी। साथ ही लाठियों के बरसने का शब्द हुआ। उसके बाद सन्नाटा छा गया। नयन बोला, "बेचारा खत्म हो गया। अब हमें ज़रा होशियार होकर चलना चाहिए।"

बालक शरत् भय से काँपने लगा। साँस लेना भी मुश्किल हो गया। धुंध के मारे कुछ दिखाई भी नहीं देता था कि सहसा फिर किसी के भागने की आवाज़

सुनाई दी। नयन चीख उठा, "खबरदार, कहे देता हूँ, बामन का लड़का मेरे साथ है। अगर पाबड़ा[1] मारा तो तुममें से एक को भी जीता नहीं छोड़ूँगा।"

कहीं से कोई जवाब नहीं मिला। कुछ आगे बढ़कर उन लोगों ने उस आदमी को देखा जिसकी चीख सुनाई दी थी। बेचारा कोई भिखारी था। एकतारा बजाकर भीख माँगता था। नयन से नहीं रहा गया। क्रुद्ध होकर बोला, "अरे नरक के कीड़ों, तुमने बेकार ही एक वैष्णव भिखारी के प्राण ले लिए। जी चाहता है तुम लोगों को भी इसी प्रकार मार डालूँ।"

इस बार पेड़ की आड़ से किसी ने जवाब दिया, "धर्म-कर्म की बातें रहने दे। जान बचाना चाहता है तो भाग जा!"

कायरो, भागूँगा मैं, तुम्हारे डर से!"

यह कहकर उसने टेंट में से रुपये निकाले और टनटनाते हुए बोला, "देखो, मेरे पास रुपये हैं। हिम्मत हो तो पास आओ और ले जाओ। मैं नयन बागदी हूँ।"

कोई उत्तर नहीं आया। मोटी-सी गाली देकर वह फिर बोला, "क्यों रे, आओगे या मैं घर जाऊँ?"

फिर भी कोई जवाब नहीं आया। राह में दो-तीन पाबड़े पड़े हुए थे। नयन ने उन्हें उठा लिया। कुछ दूर वह चला भी, लेकिन फिर बोला, "ना भइया, आँखों से वैष्णव की हत्या देखकर हत्यारों को उसकी सज़ा दिए बिना मुझसे जाया नहीं जाएगा!"

बालक शरत् ने पूछा, "क्या करोगे?"

वह बोला, "क्या मैं एक को भी न पकड़ पाऊँगा? तब हम दोनों मिलकर लाठी से पीट-पीटकर उसे मार डालेंगे?"

पीटकर मारने के आनंद से बालक शरत् बहुत प्रसन्न हुआ। बोला, "नयन दादा, तुम अच्छी तरह उसे पकड़े रहना। मैं अकेले ही उसे पीटकर मार डालूँगा। लेकिन कहीं मेरी छीप टूट गई तो?"

नयन ने हँसकर कहा, "छीप की मार से नहीं मारेगा भइया, यह सोटा लो।" और एक अच्छा-सा पाबड़ा उसने बालक शरत् को दे दिया। तब तक लुटेरों ने समझ लिया था कि वे लोग चले गए हैं। इसलिए वे भिखारी की तलाशी लेने के

1. बाँस का बना हुआ दो-तीन फीट का डंडा जो फेंककर दुश्मन के पाँव पर मारा जाता है।

लिए आ पहुँचे। नयन पेड़ की आड़ में खड़ा हो गया। उनमें से एक ने उसे देख लिया और चिल्लाकर बोला, "वहाँ कौन खड़ा है?"

उसकी चिल्लाहट सुनकर सब लोग भाग चले, लेकिन वह पकड़ा गया। नयन ने उसे बाँध लिया और बालक के पास ले आया। वह बराबर रो रहा था। मुँह पर उसने कालिख पोत रखी थी। बीच-बीच में चूने की टिपकी लगी हुई थी। नयन ने उसे सड़क पर लिटाया और कसकर दो-तीन लातें लगाईं। फिर शरत् से कहा, "अब ताककर पाबड़ा मारो।"

बालक के हाथ-पैर काँप रहे थे। रुआँसा होकर उसने कहा, "मुझसे यह काम न हो सकेगा।"

नयन ने कहा, "तुमसे न हो सकेगा, अच्छा तो मैं ही इसे खतम करता हूँ।"

शरत् ने विनती के स्वर में कहा, "ना नयन दादा, मारो नहीं।"

तब तक वह आदमी जिसने शायद दो-तीन दिन से अन्न की शक्ल भी नहीं देखी थी सड़क पर ऐसे लेटा रहा जैसे मर गया हो। नयन ने झुक के उसकी नाक पर हाथ रखा और कहा, "नहीं, मरा नहीं, बेहोश हो गया है। चलो भइया हम भी घर चलें।"

(6)

तीन वर्ष नाना के घर भागलपुर रहने के बाद अब उसे फिर देवानंदपुर लौटना पड़ा। बार-बार स्थान परिवर्तन के कारण पढ़ने-लिखने में बड़ा व्याघात होता था। आवारगी भी बढ़ती थी, लेकिन अनुभव भी कम नहीं होते थे। भागलपुर में रहते हुए नाना प्रकार की शरारतों के बावजूद शरत् ने सदा अच्छा लड़का बनने का प्रयत्न किया था। पढ़ने में भी वह चतुर था। गांगुली परिवार के कठोर अनुशासन के विरुद्ध बार-बार उसके भीतर विद्रोह जागता था। परंतु यह कामना भी बड़ी प्रबल थी कि मैं किसी से छोटा नहीं बनूँगा। इसीलिए अंततः उसकी प्रसिद्धि भले लड़कों के रूप में होती थी। इन सारी शरारतों के बीच एकांत में बैठकर आत्मचिंतन करना उसे बराबर प्रिय रहा। चिंतन के इन क्षणों में अनेक कथानक उसके मन में उभरे। लिखने का प्रयत्न भी उसने किया।

वह सुंदर नहीं था। आँखों को छोड़कर उसमें कोई विशेषता नहीं थी, लेकिन आँखों की यह चमक ही सामने वाले को बाँध लेती थी। वर्ण श्यामता की ओर था और देह थी खूब रोगी, लेकिन पैर हिरन की तरह दौड़ने में मज़बूत थे।

बिल्ली की तरह पेड़ों पर चढ़ जाता था। बुद्धि भी तीक्ष्ण थी, लेकिन दिशाहीन कठोर अनुशासन के कारण उसका प्रयोग पथभ्रष्टता में ही अधिक होता था।

देवानंदपुर लौटकर यह पथभ्रष्टता और भी बढ़ गई। अनुशासन के नाम पर यहाँ कुछ था ही नहीं। किसी तरह हुगली ब्रांच स्कूल की चौथी श्रेणी में भर्ती हो गया।[1] दो पक्के कोस चलकर स्कूल जाना पड़ता था। निपट कच्चा रास्ता, गरमी में धूल से भरा, वर्षा में कीचड़ ही कीचड़। गरीबी इतनी थी, आसानी से फ़ीस का जुगाड़ करना मुश्किल था। आभूषण बेच देने और मकान गिरवी रख देने पर भी वह अभाव नहीं मिट सका। पेट भी तो भरना होता था। फिर भी किसी तरह वह प्रथम श्रेणी[2] तक पहुँच गया परंतु अब तक पिता पर ऋण बहुत चढ़ गया था। वे फ़ीस का प्रबंध न कर सके और फ़ीस के अभाव में स्कूल जाना कैसे हो सकता था! शुरू-शुरू में वह किसी साथी के घर मुट्ठी भर भात खाकर, स्कूल के मार्ग में, पेड़ों के तले, शरारती बालकों की संगति में दिन काट देता था। फिर धीरे-धीरे उन लड़कों के दल का सरदार बन गया। विद्या पीछे छूट गई और हाथ में आ गई दुधारी छुरी, जिसे लेकर वह दिन-रात घूमा करता था। उसके भय के कारण उसके दल के सदस्यों की संख्या बड़ी तेज़ी से बढ़ रही थी। वह दूसरों के बागों के फल-फूल चोरी करने लगा था। लेकिन वह दोस्तों और गरीबों में बाँट देता था। दूसरों के ताल में मछली पकड़ने की उसकी जो पुरानी आदत थी वह और भी बढ़ गई थी। थोड़े ही दिनों में उसके आस-पास के लोग उससे तंग आ गए। लेकिन उसे पकड़कर दंड देने में वे सब असमर्थ थे। एक तो इसलिए कि वह फल और मछली को छोड़कर किसी और वस्तु को नहीं छूता था, दूसरे बहुत से निर्धन व्यक्ति उसकी लूट पर पलते थे। और गाँवों में निर्धनों की ही संख्या अधिक होती है। इन्हीं में एक व्यक्ति था बहुत दिनों से बीमार, गरीबी के कारण इलाज की ठीक-ठीक व्यवस्था कर पाना उसके लिए संभव नहीं था। आखिर उसे इसी दल की शरण लेनी पड़ी। तुरंत ये लोग बहुत-सी मछलियाँ पकड़ लाए और उन्हें बेचकर उसके इलाज का प्रबंध कर दिया। उपेक्षित-अनाश्रित रोगियों की

1. सन् 1889 या 1890, वर्तमान 7 वीं श्रेणी।
2. वर्तमान 10 वीं श्रेणी।

वे स्वयं भी यथाशक्ति सेवा करते थे। अनेक अँधेरी रातों में लालटेन और लंबी लाठी लेकर मीलों दूर, वे शहर से दवा ले आए हैं, डॉक्टर को बुला लाए हैं। इसलिए जहाँ कुछ लोग उनसे परेशान थे, वहाँ अधिकांश लोग उन्हें मन ही मन प्यार भी करते थे।

शरत् चोर नहीं था। घर में बेहद कंगाली थी, पर उसने कभी अपनी चिंता नहीं की। वह वास्तव में रॉबिनहुड के समान दुस्साहसी और परोपकारी था। अर्द्धरात्रि के निविड़ अंधकार में जब मनुष्य तो क्या, कुत्ते भी बाहर निकलने में डरते थे, वह चुपचाप पूर्व निर्दिष्ट बाग में या ताल पर पहुँचकर अपना काम कर लाता था। इस शुभ कार्य में उसके कई सहचर थे, परंतु उनमें सबसे प्रमुख था सदानंद।

इनका अड्डा ताल के किनारे वाले बाग के पास ऊँचे टीले की आड़ में एक गहरा खड्ड था। सब लुटी हुई सामग्री वे यहीं रखते थे। तंबाकू पीने का सरंजाम भी यहीं था। इस दल के उत्पात जब बहुत बढ़ गए तब सदानंद के अभिभावकों ने उसे आज्ञा दी कि वह शरत् से कभी न मिले, लेकिन मिलन क्या कभी निषेध की चिंता करता है? उन्होंने एक ऐसा उपाय खोज निकाला कि साँप मरे न लाठी टूटे। सदानंद के घर की छत से लगा एक ऊँचा पेड़ था। उसी पर चढ़कर शरत् छत पर पहुँच जाता और दोनों खूब शतरंज खेलते। उसके बाद रात्रि अभियान पर निकल पड़ते। सब काम समाप्त करने के बाद दोनों मित्र भले लड़कों की तरह अपने-अपने घर जाकर सो जाते थे। जब कभी भी उसके दिल में किसी काम को करने की इच्छा प्रबल हो उठती थी तो उस समय उसकी शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तियों का स्फुरण भी आश्चर्यजनक हो उठता था।

बीच-बीच में मछुओं की नाव लेकर कभी अकेले, कभी मित्रों के साथ कृष्णपुर गाँव में रघुनाथदास गोस्वामी के अखाड़े में पहुँच जाना वह नहीं भूला था। यहीं कहीं उसका मित्र गौहर रहता था। 'श्रीकांत' चतुर्थ पर्व का वह आधा पागल कवि कीर्तन भी करता था। मालूम नहीं वहाँ किसी वैष्णवी का नाम कमललता था या नहीं, पर यह सच है कि किशोर जीवन के ये चित्र उसके हृदय पर सदा-सदा के लिए अंकित हो गए और आगे चलकर साहित्य-सृजन का आधार बने। न जाने कितने ऐसे चित्र उसने अपनी पुस्तकों में खींचे हैं।

'श्रीकांत' चतुर्थ पर्व में कथाशिल्पी शरत्चंद्र चट्टोपाध्याय ने लिखा है, "सीधा रास्ता छोड़कर वन-जंगलों में से इस-उस रास्ते का चक्कर लगाता हुआ स्टेशन जा रहा था...बहुत कुछ उसी तरह जिस तरह बचपन में पाठशाला को जाया करता था। चलते-चलते एकाएक ऐसा लगा कि सब रास्ते जैसे पहचाने हुए हैं, मानो कितने दिनों तक कितनी बार इन रास्तों से आया-गया हूँ। पहले वे बड़े थे, अब न जाने क्यों संकीर्ण और छोटे हो गए हैं। अरे यह क्या, यह तो खाँ लोगों का हत्यारा बाग है। अरे, यही तो है! और यह तो मैं अपने ही गाँव के दक्षिण के मुहल्ले के किनारे से जा रहा हूँ! उसने न जाने कब शूल की व्यथा के मारे इस इमली के पेड़ की ऊपर की डाल में रस्सी बाँधकर आत्महत्या कर ली थी। की थी या नहीं, नहीं जानता, पर प्राय: और सब गाँवों की तरह यहाँ भी यह जनश्रुति है। पेड़ रास्ते के किनारे है, बचपन में इस पर नज़र पड़ते ही शरीर में काँटे उठ आते थे, आँखें बंद करके एक ही दौड़ में इस स्थान को पार कर जाना पड़ता था।

पेड़ वैसा ही है। उस वक्त ऐसा लगता था कि इस हत्यारे पेड़ का धड़ मानो पहाड़ की तरह है और माथा आकाश से जाकर टकरा रहा है। परंतु आज देखा कि उस बेचारे में गर्व करने लायक कुछ नहीं है, और जैसे अन्य इमली के पेड़ होते हैं वैसा ही है। जनहीन ग्राम के एक ओर एकाकी नि:शब्द खड़ा है। शैशव में जिसने काफ़ी डराया है, आज बहुत वर्षों बाद के प्रथम साक्षात् में उसी ने मानो बंधु की तरह आँख मिचकाकर मज़ाक किया, 'कहो मेरे बंधु, कैसे हो, डर तो नहीं लगता?'

मैंने पास जाकर परम स्नेह के साथ उसके शरीर पर हाथ फेरा। मन ही मन कहा, 'अच्छा ही हूँ भाई। डर क्यों लगेगा, तुम तो मेरे बचपन के पड़ोसी हो... मेरे आत्मीय।'

संध्या का प्रकाश बुझता जा रहा था। मैंने विदा लेते हुए कहा, 'भाग्य अच्छा था जो अचानक मुलाकात हो गई, अब जाता हूँ बंधु!' "

यह इन्हीं दिनों का चित्र तो है। केवल 'मुंशी लोगों का हत्यारा बाग' 'खाँ, लोगों का हत्यारा बाग' हो गया है। ये पंक्तियाँ लिखते समय उसका अपना बचपन जैसे आँखों में जी उठा था।

गल्प गढ़कर सुनाने की उसकी जन्मजात प्रतिभा भी इस समय खूब पल्लवित हो रही थी। पंद्रह वर्ष की आयु में ही वह इस कला में पारंगत हो चुका था। और उसकी ख्याति गाँव भर में फैल चुकी थी। इसी कारण शायद स्थानीय ज़मींदार व गोपालदत्त मुंशी उससे बहुत स्नेह करते थे। इनका पुत्र अतुलचंद्र तब कलकत्ता में एम.ए. में पढ़ता था। वह भी शरत् की गल्प गढ़ने की कला से बहुत प्रसन्न था और उसे छोटे भाई की तरह प्यार करता था। कभी-कभी वह उसे थिएटर दिखाने के लिए कलकत्ता ले जाता और कहता, "तुम ऐसी कहानियाँ लिखा करो, तब मैं तुम्हें थिएटर दिखाने ले जाऊँगा।"

दिखाने के बाद कहता, "अच्छा, तुम इसकी कहानी लिख सकते हो?"

शरत् ऐसी बढ़िया कहानी लिखता कि अतुल चकित रह जाता।

इसी तरह लिखते-लिखते एक दिन उसने मौलिक कहानी लिखनी शुरू कर दी। वह कौन सा दिन था, किस समय और कहाँ बैठकर उसने लिखना शुरू किया, कोई नहीं जानता, पर उस कहानी का नाम था 'काशीनाथ'। काशीनाथ उसका गुरुभाई था, उसी को नायक बनाकर उसने यह कहानी शुरू की थी। लेकिन वह नाम का ही नायक है। शायद काशीनाथ का रूप-रंग भी वैसा रहा होगा, पर घर जँवाई कैसा होता है यह उसने पिता को सुसराल में रहते देखकर जाना था। शेष कथानक का आधार भी कोई देखी या पढ़ी हुई घटना हो सकती है। उस समय वह छोटी-सी कहानी थी। बाद में भागलपुर में उसने उसे फिर से लिखा। 'काकबासा' और 'कोरेल ग्राम' दो और कहानियाँ इसी समय[1] उसके मस्तिष्क में उभरी थीं। कुछ और कहानियाँ भी उसने लिखी होंगी, पर यही कुछ नाम काल की क्रूर दृष्टि से बचे रह सके।

सूक्ष्म पर्यवेक्षण की प्रवृत्ति उसमें बचपन से ही थी। जो कुछ भी देखता उसकी गहराई में जाने का प्रयत्न करता। और यही अभिज्ञता उसकी प्रेरणा बन जाती। गाँव में एक ब्राह्मण की बेटी थी, बाल विधवा, नाम था उसका नीरू। बत्तीस साल की उमर तक कोई कलंक उसके चरित्र को छू भी नहीं पाया था। सुशीला, परोपकारिणी, धर्मशीला और कर्मठ होने के नाते वह प्रसिद्ध थी। रोग में

1. सन् 1893 ई.

सेवा, दुख में सांत्वना, अभाव में सहायता, आवश्यकता पड़ने पर महरी का काम भी करने में वह संकोच नहीं करती थी। गाँव में एक भी घर ऐसा नहीं था जिसने उससे किसी न किसी रूप में सहायता न पाई हो। शरत् उसे 'दीदी' कहकर पुकारता था। दीदी भी उसे बहुत प्यार करती थी। दोनों एक ही पर दुख-कातर जाति के व्यक्ति थे न।

इसी दीदी का 32 वर्ष की उमर में अचानक एक बार पदस्खलन हुआ। गाँव के स्टेशन का परदेसी मास्टर उसके जीवन को कलंकित करके न जाने कहाँ भाग खड़ा हुआ। उस समय गाँव वाले उसके सारे उपकार, सेवा-टहल, सब कुछ भूल गए। उन हृदयहीन लोगों ने उसका बहिष्कार कर दिया। उससे बोलना-चालना तक बंद कर दिया। बेचारी एकदम असहाय हो उठी। स्वास्थ्य दिन पर दिन गिरने लगा, यहाँ तक कि वह मरणासन्न हो गई। इस हालत में भी कोई उसके मुँह में एक बूँद पानी डालने के लिए नहीं आया। किसी ने उसके दरवाज़े पर जाकर झाँका तक नहीं, जैसे वह कभी थी ही नहीं।

शरत् को भी यह आज्ञा थी कि वह वहाँ नहीं जाए, लेकिन उसने क्या कभी कोई आज्ञा मानी थी। रात के समय छिपकर वह उसे देखने जाता। उसके हाथ-पैर सहला दिया करता। कहीं से एक-दो फल लाकर खिला आया करता। अपने गाँव के लोगों के हाथों इस प्रकार पैशाचिक दंड पाकर भी नीरू दीदी ने कभी किसी के खिलाफ़ कोई शिकवा-शिकायत नहीं की। उसकी अपनी लज्जा का कोई पार नहीं था। वह अपने को अपराधी मानती थी और उस दंड को उसने इसीलिए हँसते-हँसते स्वीकार किया था। उसकी दृष्टि में वही न्याय था।

शरत् का चिंतातुर मन इस बात को समझ गया था कि अपने अपराध का दंड उसने स्वयं ही अपने को दिया था। गाँव के लोग तो उपलक्ष्य मात्र थे। उसने इन्हें माफ़ कर दिया था, लेकिन अपने को नहीं किया था।

जब वह मरी तो किसी भी व्यक्ति ने उसकी लाश को नहीं छुआ। डोम उसे उठाकर जंगल में फेंक आए। सियार-कुत्तों ने उसे नोच-नोचकर खा लिया।

और यहीं पर उसने 'विलासी' कहानी के कायस्थ मृत्युंजय को सँपेरा बनते देखा था। वह उसके ही स्कूल में पढ़ता था, पर तीसरी कक्षा से आगे नहीं

बढ़ सका। एक चाचा के अतिरिक्त उसका और कोई नहीं था। लेकिन वह चाचा ही उसका परम शत्रु था। उसके बड़े बाग पर उसकी दृष्टि थी। चाहता था मरे तो पाप कटे, इसीलिए रोगी हो जाने पर उसने मृत्युंजय की ज़रा भी खोज-खबर नहीं ली। तड़प-तड़पकर मर जाता बेचारा, यदि एक बूढ़ा ओझा और उसकी लड़की सेवा करके उसे बचा न लेते। इस लड़की का नाम था विलासी। इस सेवा-टहल के बीच वह उसके बहुत पास आ गई। इतनी कि उसने उसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया। पर समाज के ठेकेदार यह सब कैसे सह सकते थे। उन्होंने मृत्युंजय को समाज से बाहर निकाल दिया। लेकिन मृत्युंजय ने इसकी चिंता नहीं की। उसे अपमानित किया गया, पीटा गया, परंतु न तो उसने प्रायश्चित ही किया, न विलासी को घर से निकाला। उसे लेकर वह दूर जंगल में जाकर रहने लगा। वहीं रहकर वह साँप पकड़ता और जीविका चलाता। सिर पर गेरुए रंग की पगड़ी, बड़े-बड़े बाल, मूँछ-दाढ़ी, गले में रुद्राक्ष और काँच की मालाएँ। उसे देखकर कौन कह सकता था कि वह कायस्थ कुल का मृत्युंजय है।

शरत् छिप-छिपकर उसके पास जाता। उसने साँप पकड़ना, ज़हर उतारने का मंत्र, सभी कुछ उससे सीखा। एक दिन एक ज़हरीला नाग पकड़ते हुए मृत्युंजय चूक गया। नाग ने उसे डस लिया। उसको बचाने के सारे प्रयत्न बेकार हो गए। सात दिन मौन रहने के बाद विलासी ने आत्महत्या कर ली।

वर्षों बाद कथाशिल्पी शरत्चंद्र ने लिखा, "विलासी का जिन लोगों ने मज़ाक उड़ाया था, मैं जानता हूँ, वे सभी साधु, गृहस्थ और साध्वी गृहणियाँ थीं। अक्षय स्वर्ग और सती लोक उन्हें मिलेगा, यह भी मैं जानता हूँ। पर वह सँपेरे की लड़की जब एक पीड़ित और शैयागत रोगी को तिल-तिल कर जीत रही थी, उसके उस समय के गौरव का एक कण भी शायद आज तक उनमें से किसी ने आँखों से नहीं देखा। मृत्युंजय हो सकता है कि एक बहुत तुच्छ आदमी हो किंतु उसके हृदय को जीत कर उस पर कब्ज़ा करने का आनंद तुच्छ नहीं था। उसकी वह संपदा तो मामूली नहीं थी। ...शास्त्रों के अनुसार वह निश्चय ही नरक गई है, परंतु वह कहीं भी जाए जब मेरा अपना जाने का समय आएगा तब इतना तो मैं कह

सकता हूँ कि वैसे ही किसी एक नरक में जाने के प्रस्ताव से मैं पीछे नहीं हटूँगा।"[1]

इन दृश्यों का कोई अंत नहीं था। इन्हीं को देखकर उसने सोचा कि मनुष्य में जो देवता है उसका इतना तिरस्कार मनुष्य अपने ही हाथों से कैसे करता है? इन्हीं प्रश्नों ने उसकी पर्यवेक्षण शक्ति को तीव्रता दी, और दिया संवेदन! इसी संवेदन ने उसे कहानीकार बना दिया।

कहानी लिखने की प्रेरणा उसे एक और मार्ग से मिली। चोरी-चोरी उसने अपने पिता की टूटी हुई अलमारी खोलकर 'हरिदास की गुप्त बातें' और 'भवानी पाठ' जैसी पुस्तकें कभी की पढ़ डाली थीं। ये स्कूल की पाठ्यपुस्तकें नहीं थीं। बुरे लड़कों के योग्य, अपाठ्य पुस्तकें थीं, यही उसको बताया गया था। इसीलिए उसे चोरी का आश्रय लेना पड़ा। वह केवल स्वयं ही उसको नहीं पढ़ता था, अपने साथियों को पढ़कर सुनाता भी था। फिर मन ही मन नए कथानक गढ़ता था।

इसी टूटी हुई अलमारी में से उसने अपने पिता की लिखी हुई अधूरी कहानियाँ भी खोज निकालीं। वह उत्सुक होकर पढ़ना शुरू करता परंतु अंत तक पहुँचने का कोई मार्ग ही पिता ने नहीं छोड़ा था। परेशान होकर वह उठता, "बाबा, इसे पूरा क्यों नहीं करते? करते तो कैसा होता?"

तब मन ही मन उसने अंत की कल्पना की और सोचा–'काश, मैं इस कहानी को लिख पाता।'

पिता का यह अधूरापन भी उसकी प्रेरक शक्ति बन गया।

अभिज्ञता प्राप्त करने के मार्गों की उसके लिए कोई कमी नहीं थी। घर का घोर दारिद्र्य बार-बार उसे भाग जाने के लिए प्रेरित करता रहता। यात्रा दल के अतिरिक्त कभी-कभी वह यूँ ही घर से निकल पड़ता। एक दिन सुप्रसिद्ध सॉलीसीटर गणेशचंद्र कहीं से कलकत्ता लौट रहे थे। देखा, उनके डिब्बे में एक तेरह-चौदह वर्ष का लड़का चढ़ आया है। पहनावे से अत्यंत दरिद्र घर का मालूम होता है। बड़े स्नेह से उन्होंने उसे अपने पास बुलाया। बातें करने लगे। पता लगा कि वह लड़का उनके एक मित्र का नाती है। क्रांतिकारी बिपिनबिहारी गांगुली के

1. शरत् साहित्य, भाग-5, पृष्ठ 121 (विलासी गल्प)

पिता अक्षयनाथ ही उनके मित्र थे। वह रिश्ते में शरत् के नाना लगते थे। कलकत्ता पहुँचकर गणेशचंद्र ने शरत् को अक्षयनाथ के घर भेज दिया।

देवानंदपुर में रहते हुए एक बार फिर वह लंबी यात्रा पर निकल पड़ा। इस बार उसका गंतव्य स्थान था पुरी। यह जाना अनायास और अकारण ही नहीं था। एक परिवार से उन लोगों का घनिष्ठ परिचय था। उसकी स्वामिनी शरत् से आयु में बहुत बड़ी थी और उसे बहुत स्नेह करती थी। अचानक वह बीमार हुई। पति कहीं दूर काम करते थे। किशोर शरत्, जैसा कि उसका स्वभाव था, मन-प्राण से उनकी सेवा में जुट गया। तभी एक ऐसी घटना घटी कि वह उसे गलत समझ बैठा। उसे इतनी ग्लानि हुई कि घर से निकल पड़ा।

चलते-चलते उसका शरीर थक गया। न कहीं खाने की व्यवस्था, न ठहरने की सुख-सुविधा, परिणाम यह हुआ कि तीव्र ज्वर ने उसे जकड़ लिया और उसे एक पेड़ के नीचे आश्रय लेने को विवश होना पड़ा। उसी समय एक विधवा उधर से निकली। शायद उसने पानी माँगा था या वह कराहा था। वह तुरंत उसके पास गई। छूने पर उसका हाथ जैसे तपते तवे पर पड़ा हो। करुणा-द्रवित वह बोल उठी, "हाय राम, तुझे तो तेज़ ज्वर है।"

वह उसे अपने घर ले गई। कई दिन की उसकी ममतापूर्ण सेवा-सुश्रूषा के बाद ही उसे ज्वर से मुक्ति मिल सकी, परंतु तभी एक और ज्वर में वह फँस गया। उस विधवा का एक देवर था और एक था बहनोई। देवर चाहता था, वह उसकी होकर रहे। बहनोई मानता था कि उस पर उसका अधिकार है। लेकिन वह किसी के पास नहीं रहना चाहती थी। एक दिन दुखी होकर उसने शरत् से कहा, "तुम अब ठीक हो गए हो, चलो मैं भी तुम्हारे साथ चलती हूँ।"

और कहीं जाने को वह चुपचाप उसके साथ निकल पड़ी। इस निकल पड़ने के पीछे मात्र मुक्ति की चाह थी, लेकिन वह अभी कुछ ही दूर जा पाए थे कि उस विधवा के दोनों प्रेमी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने किसी से कुछ नहीं पूछा, जी भरकर शरत् को पीटा और चीखती-चिल्लाती विधवा को वापस ले गए।

फिर उसका क्या हुआ, शरत् कभी नहीं जान सका। लेकिन वह समझ गया कि एक-दूसरे के विरोधी होते हुए भी लुच्चे-लफंगों में एका होता है और भले

लोग अधिक होते हुए भी एक-दूसरे से छिटके-छिटके रहते हैं। कथाशिल्पी शरत्चंद्र के प्रसिद्ध उपन्यास 'चरित्रहीन' का आधार ये ही घटनाएँ बनीं और इसी समय उसकी रूपरेखा उसके मस्तिष्क में उभरी।

वह पुरी के मार्ग पर आगे बढ़ गया। फिर गाँव-गाँव में आतिथ्य लाभ कर जब वह घर लौटा तो उसका चेहरा इतना विकृत हो गया था कि पहचाना तक न जाता था। सुना गया कि प्रसिद्ध गणितज्ञ पी.बसु के घर उसने आश्रय लिया था।

एकाध बार चोर-डाकुओं के दल में भी पड़ जाने की बात सुनी जाती है। असल में वह इतना दुस्साहसी था कि उसके बारे में नाना प्रकार की कथाएँ चल निकली थीं। उसका स्वभाव था कि अपने मन की बात कभी किसी से नहीं कहता था। परंतु अभिनय करना उसे खूब आता था। झूठ को सच बनाकर चलाने की कला में वह निष्णात था।

इस सब अभिज्ञता के पीछे परिवार की स्थिति थी जो सचमुच बहुत खराब हो चुकी थी। दादी का देहांत हो चुका था। वे थीं तो किसी तरह परिवार के मान की रक्षा करती आ रही थीं। पर अब सबके सामने एक बहुत बड़ा शून्य था। कर्ज़ मिलने की एक सीमा होती है। निश्चय ही 'शुभदा' की कृष्णा बुआ की तरह किसी ने कहा होगा, "अपने बाप से कुछ उपाय करने को, कुछ कमाने को कहो। नहीं तो मैं दुखी गरीब, रुपया-पैसा कुछ न दे सकूँगी।"

इस प्रकार दरिद्रता और अपमान को सहन करने की उसकी माँ की शक्ति सीमा का अतिक्रमण कर गई थी। पर जाए तो वह कहाँ जाए? उसके माता-पिता[1] कभी के स्वर्गवासी हो चुके थे। परिवार छिन्न-भिन्न हो गया था। भाइयों की आर्थिक स्थिति ज़रा भी उत्साहजनक नहीं थी। फिर भी जब उसके लिए देवानंदपुर में रहना असंभव हो गया तो डरते-डरते उसने अपने छोटे काका अघोरनाथ को चिट्ठी लिखवाई। अघोरनाथ ने उत्तर दिया, "चली आओ!"

शरत् फिर देवानंदपुर नहीं लौटा। यहाँ उसका सारा जीवन घोर दारिद्र्य और अभाव में ही बीता। माँ और दादी के रक्त और आँसुओं से इस गाँव के पथ-घाट

---

1. माता : 1891 ई., पिता : 1 जनवरी 1892 ई.।

भीगे हुए हैं। दरिद्रता के जो भयानक चित्र कथाशिल्पी शरत् ने 'शुभदा' में खींचे हैं उनके पीछे निश्चय ही उसकी यह अभिज्ञता रही है। इसी यातना की नींव में उसकी साहित्य-साधना का बीजारोपण हुआ। यहीं उसने संघर्ष और कल्पना से प्रथम परिचय पाया। इस गाँव के ऋण से वह कभी मुक्त नहीं हो सका।

प्रश्न-अभ्यास

1. "उस समय वह सोच भी नहीं सकता था कि मनुष्य को दुख पहुँचाने के अलावा भी साहित्य का कोई उद्देश्य हो सकता है।" लेखक ने ऐसा क्यों कहा? आपके विचार से साहित्य के कौन-कौन से उद्देश्य हो सकते हैं?
2. पाठ के आधार पर बताइए कि उस समय के और वर्तमान समय के पढ़ने-पढ़ाने के तौर-तरीकों में क्या अंतर और समानताएँ हैं? आप पढ़ने-पढ़ाने के कौन से तौर-तरीकों के पक्ष में हैं और क्यों?
3. पाठ में अनेक अंश बाल सुलभ चंचलताओं, शरारतों को बहुत रोचक ढंग से उजागर करते हैं। आपको कौन सा अंश अच्छा लगा और क्यों?
4. नाना के घर किन-किन बातों का निषेध था? शरत् को उन निषिद्ध कार्यों को करना क्यों प्रिय था?
5. आपको शरत् और उसके पिता मोतीलाल के स्वभाव में क्या समानताएँ नज़र आती हैं? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
6. क्या अभाव, अधूरापन मनुष्य के लिए प्रेरणादायी हो सकता है?
7. "जो रुदन के विभिन्न रूपों को पहचानता है वह साधारण बालक नहीं है। बड़ा होकर वह निश्चय ही मनस्तत्व के व्यापार में प्रसिद्ध होगा।" अघोर बाबू के मित्र की इस टिप्पणी पर अपनी टिप्पणी कीजिए।
8. शरतचंद्र के जीवन की घटनाओं से आपके जीवन की जो भी घटना मेल खाती है उसके बारे में लिखिए।
9. क्या आप अपने गाँव और परिवेश से कभी मुक्त हो सकते हैं?

शब्दार्थ और टिप्पणी

नवासा	बेटी का बेटा, नाती
पैरेलल बार	समानांतर बाड़ (बाँस की बनी रोक)
निस्तब्धता	खामोशी
यायावर प्रकृति	घुमक्कड़ी स्वभाव
कृतार्थ	परोपकार, पुरुषार्थ, संतुष्ट अनुभव करना
अपरिग्रही	किसी से कुछ ग्रहण न करने वाला
स्वल्पाहारी	कम मात्रा में भोजन करने वाला
आच्छन्न	घिरा हुआ
स्निग्धहरित प्रकाश	ऐसा हरा प्रकाश जिसमें चमक और शीतलता हो
आँखें जुड़ाने लगीं	आँखों में तृप्ति का भाव
पुलक	प्रसन्नता
विदीर्ण	भेदना
मनस्तत्व	विद्या संबंधी
पारितोषिक	पुरस्कार
शाद्वल	नयी हरी घास से युक्त
अपरिसीम	जिसकी कोई सीमा न हो
आजानबाहु	जिसकी घुटनों तक बाहें हों
प्रत्युत्पन्नमति	प्रतिभाशाली, जिसे उचित उत्तर तत्काल सूझ जाए
हतप्रभ विमूढ़	हैरान, कुछ समझ में न आना
आत्मोत्सर्ग	आत्मबलिदान
सरंजाम	तैयारी, प्रबंध (होना, करना), काम का नतीजा
मूड़ी	मुरमुरे, चावल का भुना रूप
निरुद्वेग	शांत, उद्वेगरहित
खिरनियाँ	पीला फल, एक फलवृक्ष
कमचियाँ	बाँस आदि की पतली टहनी
निविड़	घना, घोर
स्फुरण	काँपना, हिलना, फड़कना
गल्प	कथा, कहानी
धर्मशीला	वह स्त्री जो धर्म के अनुसार आचरण करे
पदस्खलन	अपने मार्ग से भटकना, पतन होना
अपाठ्य पुस्तकें	न पढ़ी जाने योग्य पुस्तकें
अभिज्ञता	जानना

मोहन राकेश

(सन् 1925–1972)

जन्म जंडीवाली गली, अमृतसर (पंजाब) में। हिंदी और संस्कृत में एम.ए। लाहौर, मुंबई, दिल्ली, शिमला, जालंधर आदि में विविध नौकरियाँ कीं, पर मिज़ाज स्वतंत्र लेखन का ही रहा। अध्यापन भी किया और संपादन भी। 'सारिका' के संपादक भी रहे।

मोहन राकेश नयी कहानी के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर माने जाते हैं, किंतु नाट्य लेखन के क्षेत्र में उनका विशिष्ट स्थान है। नाटक के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक पर **संगीत नाटक अकादमी** ने सन् 1959 में उन्हें पुरस्कृत भी किया। सन् 1971 में नाट्य लेखन के लिए **साहित्य अकादमी** से सम्मानित हुए।

इंसान के खंडहर, नए बादल, जानवर और जानवर, एक और ज़िंदगी (कहानी-संग्रह); अँधेरे बंद कमरे (उपन्यास); आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे अधूरे, पैर तले की ज़मीन (नाटक); अंडे के छिलके तथा अन्य एकांकी, रात बीतने तक (एकांकी-संग्रह); आखिरी चट्टान तक (यात्रावृत्त) बकलम खुद, परिवेश (निबंध); बिना हाड़-मांस के आदमी (बालोपयोगी कथा-संग्रह) इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

मकबूल फ़िदा हुसैन

(सन् 1915–2011)

आधुनिक भारतीय चित्रकला के प्रमुख स्तंभ। जन्म शोलापुर (महाराष्ट्र) में। सिनेमा होर्डिंग के पेंटर के रूप में काम शुरू किया और खुद कई फ़िल्मों के निर्माण से जुड़े रहे। हमेशा चर्चा और विवादों में बने रहने वाले हुसैन ने ललित कला अकादमी की प्रथम राष्ट्रीय प्रदर्शनी में प्रथम पुरस्कार पाया। उन्हें सन्

1966 में **पद्मश्री** से और सन् 1973 में **पद्मभूषण** से अलंकृत किया गया। सन् 1967 में *थ्रू द आइज़ ऑफ़ ए पेंटर* नामक वृत्तचित्र बनाया जोकि बर्लिन में पुरस्कृत हुआ। चर्चित चित्रकार हुसैन ने कई शृंखलाओं में चित्र बनाए। हुसैन ने युवा कलाकारों के लिए कला का एक नया और विशाल बाज़ार खड़ा किया।

विष्णु प्रभाकर

(सन् 1912-2009)

प्रेमबंधु और **विष्णु** नाम से लेखन की शुरुआत की। बाद में प्रभाकर भी जुड़ गया। इनका जन्म उत्तर प्रदेश के मुज़फ़्फ़रनगर ज़िले के एक गाँव में हुआ लेकिन बाल्यकाल हरियाणा में गुज़रा। वहीं पढ़ाई हुई उसके बाद नाटक कंपनी में अभिनय से लेकर मंत्री तक का काम किया। मौलिक लेखन के अतिरिक्त विष्णु प्रभाकर 60 से अधिक पुस्तकों का संपादन भी कर चुके हैं।

कहानी, उपन्यास, जीवनी, रिपोर्ताज, नाटक आदि विधाओं में रचना की। आवारा मसीहा (शरत्चंद्र की जीवनी); प्रकाश और परछाइयाँ, बारह एकांकी, अशोक (एकांकी-संग्रह); नव प्रभात, डॉक्टर (नाटक); ढलती रात, स्वप्नमयी (उपन्यास); जाने-अनजाने (संस्मरण) आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

विष्णु प्रभाकर की रचनाओं में स्वदेश प्रेम, राष्ट्रीय चेतना और समाज-सुधार का स्वर प्रमुख रहा जोकि सरकारी नौकरी छोड़ने का कारण बना। 'आवारा मसीहा' के लिए उन्हें **साहित्य अकादमी** पुरस्कार से सम्मानित किया गया। आजीवन वे गांधीवादी विचारों से प्रभावित रहे। मृत्यु से पहले उन्होंने निर्णय लिया था कि चिकित्सा के क्षेत्र में शोधरत शोधार्थियों के लिए वे अपना शरीर दान करेंगे। हुआ भी वैसा ही। मृत्योपरांत उनका शरीर अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स), दिल्ली को सौंप दिया गया।